आध्यात्मत्रिवेणी



ललितमोहन पन्त

प्रस्तुत पुस्तक का संक्षिप्त परिचय

देह को स्वस्थ और ऊर्जित रखने के लिये जैसे उचित आहार की आवश्यकता होती है, उसीप्रकार सूक्ष्म शरीर, मन, बुध्दि आदि के लिये समुचित आध्यात्मिक खुराक आवश्यक है। शरीर एवं मन दोनों के स्वस्थ रहने पर ही मनुष्य अपने पशुत्व के पाश से मुक्त होकर **मानवधर्मिता** के गुणों के विकास द्वारा सही अर्थ में मनुष्यता की प्राप्ति कर सकता है।

आध्यात्मत्रिवेणी में श्री शङ्कराचार्य कृत **आत्मबोध**, महर्षि रमण कृत **उपदेशसारम** एवं श्री लक्ष्मीधर कवि कृत **अद्वैतमकरन्द** के मूल श्लोकों के सुगम हिन्दी पदानुवाद के साथ ही **गीता उपनिषदादि श्रुति वाक्यों** एवं मनीषियों द्वारा रचित **मननात्मक**, प्रकरण एवं **विज्ञान ग्रन्थों** के उद्धरणों से संबलित विवेचनापूर्वक सूक्ष्म-शरीर को स्वस्थ रखने के लिये अध्ययन, मनन एवं निदिध्यासन हेतु आहार प्रस्तुत है। साथ ही आध्यात्म जैसे गरिष्ट बौद्धिक आहार के सुपाच्य बनाने हेतु, उपसंहार रूप से समाहार एवं आध्यात्म विषयक मन में उठ सकने वाली कतिपय शंकाओं के समाधान का **प्रश्नोत्तर** के रूप से प्रयास किया है। निगमागमों, पुराणों, उपनिषदों, सिद्धानुभव ग्रन्थों एवं अनेकों वाङ्मयो में प्रचुर आध्यात्मिक प्रकरण मिलते हैं, इनमें से चयनित नौ प्रकरणों को **दार्शनिक संवाद** के रूप से प्रस्तुत कर विषयवस्तु को अधिक रुचिकर बनाने का प्रयास भी किया गया है। इसी क्रम में प्रातःस्मरणीय आचार्य शङ्कर कृत आध्यात्म विषयक दो प्रमुख उपदेशों **निर्वाणदशकम्** तथा **आत्मपञ्चकम्** का मूल श्लोकों के साथ उनके सुगम हिन्दी पदों के रूप अनुवाद द्वारा पुस्तक को अधिक उपादेय बनाने का भी प्रयत्न किया गया है।

जिज्ञासु पाठकों की सहायता हेतु **आध्यात्मत्रिवेणी** के तीनों घटकों - **आत्मबोध, उपदेशसारम** तथा **अद्वैतमकरन्द** - के कुल १२६ श्लोकों की वर्णानुक्रमणिका भी दी गयी है।

- लेखक

ॐ खं ब्रह्म

आध्यात्मत्रिवेणी



ललितमोहन पन्त

ॐ खं ब्रह्म

आध्यात्मत्रिवेणी

श्री शङ्कराचार्य कृत आत्मबोध

श्री रमण महर्षि कृत उपदेशसारम्

एवम्

श्री लक्ष्मीधर कवि कृत अद्वैतमकरन्द साथ में

श्री शङ्कराचार्य कृत निर्वाण दशकम् तथा

आत्मपञ्चकम् - हिन्दी पद्यानुवाद समेत,

मूल संस्कृत श्लोकों एवं उनकी

विस्तृत भूमिका टीका उपसंहार

हिन्दी पद्यरूपान्तर आध्यात्मप्रश्नोत्तर तथा

श्लोकों की वर्णानुक्रमणिका सहित

रचयिता

ललितमोहन पन्त

लेखक / प्रकाशक

ललितमोहन पन्त

बी-६०१/६०२२, रोहतास अपार्टमेंट,

विकास नगर, लखनऊ - २२६ ०२२

सम्बर्धितमिदं देहं स्नेहेन पालितं तथा।
नमामि, 'मोहिनी देवीं' जननीं पुत्रवत्सलाम्॥
नमामि श्रद्धया भक्त्या पितरं 'प्रेमबल्लभं'।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवता॥



ललितमोहन पन्त

कृतज्ञता ज्ञापन
एवं
समर्पण

मैंने श्री शङ्कराचार्य कृत **आत्मबोध,** श्री रमण महर्षि कृत **उपदेशसारम्** एवं श्री लक्ष्मीधर कवि कृत **अद्वैत मकरन्द** के श्लोकों की टीका एवं उनका हिन्दी रूपान्तर करने में, **श्रीमद्भगवद्गीता, योगवासिष्ठ, ईश, कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर, आत्मबिन्दु, छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों** के वाक्यों तथा, **पातञ्जल योगदर्शन** एवं **नारदभक्तिसूत्र** के सूत्रों के साथ श्री शङ्कराचार्य कृत **विवेक चूड़ामणि** एवं **ब्रह्मसूत्र भाष्य,** श्री विद्यारण्यमुनि कृत **पञ्चदशी,** श्रीस्वामीशिवानन्दकृत **योगसार,** श्री स्वामी निखिलानन्द कृत **आत्मबोध** टीका श्री स्वामी तेजोमयानन्द कृत **अद्वैत मकरन्द** तथा **उपदेश सार** टीका, तथा रमणाश्रम से इन्टरनेट द्वारा प्राप्त सामग्री का उपयोग किया है। **मैं,** एतद्द्वारा इन महात्माओं के प्रति नतमस्तक हो **कृतज्ञता ज्ञापन** करता हूँ।

'त्वदीय वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पयेत्'

की भावना से यह पुस्तक उन्हीं को समर्पित करता हूँ।

ललितमोहन पन्त

विषय सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
• भूमिका	१-२४
• श्रीशङ्कराचार्य कृतं आत्मबोध: (श्लोक १ से ६८)	२५-८२
• श्री रमण महर्षि कृतं उपदेश सारम् (श्लोक १ से ३०)	८३-१२६
• श्री लक्ष्मीधर कवि कृतं अद्वैत मकरन्द: (श्लोक १ से २८)	१२७-१५४
• उपसंहार	१५५-१६३
• आध्यात्म प्रश्नोत्तर	१६४-१७७
• कुछ दार्शनिक संवाद	१७८-२००
• श्लोकों की वर्णानुक्रमणिका	२०१-२०५
• श्रीशङ्कराचार्य कृतं निर्वाण दशकम् (हिन्दी पद्यानुवाद सहित)	२०६-२०८
• श्री शङ्कराचार्य कृतं आत्मपञ्चकम् (हिन्दी पद्यानुवाद सहित)	२०९-२१०
• मालोज पन्तकुल गाथा	२११-२१३

भूमिका

धर्म और आध्यात्म भिन्न होने पर भी परस्पर संबंधित होते हैं। संसार के सभी धर्मों में आध्यात्मिक तत्वों का संयोजन रहता है। हिन्दू सनातन धर्म का तो आधार ही आध्यात्म है। इसी कारण धर्म और आध्यात्म को एक दूसरे का पर्याय समझने का भ्रम हो जाता है। जहाँ आध्यात्म इन्द्रियातीत परोक्ष तत्वों, उत्पत्ति-प्रलय, आत्मा-परमात्मा, स्थूल-सूक्ष्म देह, लौकिक-पारलौकिक जीवन, पाप-पुण्य, स्वर्ग-मोक्ष आदि की विवेचना करता है, धर्म हमारे निज, पारिवारिक, सामाजिक, आचार-व्यवहार को संयत करने के मानकों को निश्चित करता है, जिससे समाज में मानवीय सद्‌गुणों का विकास हो सके। सोने में सुगन्ध की भांति, धर्म में आध्यात्मिकता का समावेश होने से मनुष्यों में सद्‌गुण पनपने से उच्चता आ जाती है, जीवन-दर्शन स्वस्थ होकर दैवी गुणों से सम्पन्न हो जाता है। तभी, धर्मों में जितनी अधिक मात्रा में आध्यात्मिकता होती है उतना ही अधिक पाखण्ड रहित, शुभ संस्कारयुक्त और कल्याण पथ में ले जाने वाला वह धर्म माना जाता है। धर्म ही समाज के सभी अंगों में संयोजन कर समाज का परिष्कार करने वाला तत्त्व है। इसके विकृत होने या लुप्त हो जाने से समाज में कुप्रबंधन, उच्छ्छृंखलता और भ्रष्टता आ जाती है, और समाज शनैः शनैः पतनोत्मुख होता जाता है। इसीलिये धर्म का अंकुश और शास्त्रसम्मत धर्माचरण सभी वर्गों में आवश्यक समझा जाता है। पर आज धर्म को जाति और सम्प्रदाय से जोड़कर धर्म को संकीर्ण बना दिया गया है और प्रचुर मात्रा में उसका आध्यात्म से संबंध-विच्छेद कर उसे मात्र ढोंग और पाखण्ड में परिणत कर दिया गया है। तथाकथित धर्मगुरुओं ने भी जन-आस्था को ढाल बना, लोगों को भ्रमित-चकित कर, धर्म को अपना स्वार्थ-साधक व्यापार सा बना दिया है, जिससे सच्ची धार्मिकता लुप्त-प्राय होकर धर्म में विद्रूपता आ गई है।

गोस्वामी तुलसीदास जी का कथन, “**मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा।। मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुं संत कहइ सब कोई**”। (राम चरित मानस उ. कां.), आज प्रत्यक्ष होता लग रहा है। धर्म आज लोगों के आचरण में नहीं, दूरदर्शन प्रणालियों में मनोरञ्जन का साधन बना हुवा है। मन्दिरों-घरों में खूब पूजा पाठ होते दिखने पर भी दिनों दिन पाप कर्मों की बृद्धि होती जा रही है। यह विसंगति धर्म के अध्यात्म पक्ष के क्षीण होने के कारण और सनातन धर्म-तत्त्वों के प्रति अज्ञान से पैदा हो रही है। यही कारण है कि आज सम्भ्रान्त, बुद्धिजीवी लोग धर्म से उदासीन रहना श्रेयस्कर मानने लगे है। और धर्म को ढोंगियों और बुद्धिहीन एवं नासमझ लोगों का शुगल मानते हैं। इसी कारण आज नयी पीढी में धर्म के प्रति अनास्था परिलक्षित हो रही है और चार्वाकीय सिद्धान्त ‘**खाओ पियो मौज करो**’ प्रभावी होता प्रतीत होता है।

जीवन में श्रेय-मार्ग पाने के लिये धर्म-तत्त्वों का विवेकपूर्ण सम्यक् ज्ञान और उनका आध्यात्मिक निरूपण जानना आवश्यक है। यही एक स्वस्थ, संयत और शान्ति पूर्ण जीवनयापन में सहायक होता है और चित्त में सत्प्रवृत्तियों का विकास करता है। वेदान्त एक वैज्ञानिक धर्म-दर्शन है, जो जीव, आत्मा, ईश्वर, मोक्ष, सत्-असत् आदि का निरूपण करता और हमारे सांसारिक जीवन में इनका संबंध उद्घाटित करता है। वेदान्त की तीन धाराऐं हैं, जिनमें मामूली सा अन्तर है। एक माधवाचार्य जी का ‘**द्वैतवाद**’, दूसरा शङ्कराचार्य जी का ‘**अद्वैतवाद**’ और तीसरा रामानुजाचार्य जी का ‘**विशिष्ट अद्वैतवाद**’। इनके बीच अन्तर को समझने के लिये अगर **ब्रह्म** (परमात्मा), **आत्मा** (जीव) और **जगत** (इन्द्रियानुभूत संसार) तीनों को एक त्रिभुज के तीन कोण मानें, तो **द्वैतवाद के अनुसार जीव, परमात्मा और दृष्य जगत, तीनों वास्तविक हैं और इनकी भिन्न सत्ता है**। द्वैतवाद के प्रवर्तक माधवाचार्य जी के अनुसार, असीम परमात्मा अपनी प्रकृति रूपा शक्ति द्वारा जगत रूप सृष्टि को रचते हैं जीव अपने

सीमित अस्तित्व के कारण असीम परमात्मा से भिन्न होता है, और पुनर्जन्म पाकर अपने कर्म फलों के भोग हेतु संसार में आता है, और भोग समाप्त होने एवं कर्म क्षय होने पर शुद्ध हो परमात्मा के साथ **सायुज्य** प्राप्त कर संसृति से मुक्त होता है। द्वैतवादियों के अनुसार **स्वर्ग** और **नरक** पुनर्जन्म व्यवस्था में जीव के सुधार के स्थान हैं, और सृष्टि उनके मत से पदार्थों तथा जीवों का परमात्मा की इच्छा से साकार होना है। इसमत के अनुसार जीव को जन्म जन्मान्तरों में परमात्मा की भक्ति करने से शुचिता एवं परमात्मा से सायुज्य की अर्हता प्राप्त होती है। यही जीव का परमार्थ कहा जाता है द्वैतवादी ईश्वरेच्छा को मानवता का संरक्षक, अनन्त सत्य रूप परमात्मा को पूर्णत: स्वतंत्र तथा सान्त परतंत्र जीव को ईश्वराधीन तथा परमात्मा और जीवात्मा का संबंध बिम्ब प्रतिबिन्ब रूप से- (वस्तु और दर्पण में दिखाई देनेवाले उसके प्रतिबिम्ब) मानते हैं। वे बन्ध-मोक्ष को वास्तविक और परमात्मा की कृपा को ही मोक्ष का कारण बताते है।

विशिष्ट अद्वैत मत के अनुयायी भी ब्रह्म, आत्मा और जगत तीनों की वास्तविकता मानते हैं, पर कहते हैं कि इनकी सत्ता ब्रह्म में है। यानि आत्मा और जगत के साथ ब्रह्म का कार्य-कारण सम्बन्ध है । निर्विकार ब्रह्म ही जीव और जगत के रूप में आभासित होता है। इसी से परमात्मा उनके विचार से सर्वव्यापी हैं । जीव भक्ति और शरणागति से परमात्मा की सेवा में उनके अनुचर के रूप से उनके समीप स्थान पाता है। यही विशिष्ट अद्वैत मत में जीव की मुक्ति कहलाती है। यह द्वैत मत की तरह सायुज्य न होकर **सामीप्य** होती है। भक्ति और सगुणोपासना वाले सनातन धर्म में विशेषत: शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों में श्री माधवाचार्य जी का द्वैतवाद प्रचलित है और वैष्णव सम्प्रदायों में श्री रामानुजाचार्य जी का विशिष्ट अद्वैत मत मान्य है।

अद्वैतवादी श्री शङ्कराचार्य जी इस ब्रह्म, जीव और जगत के त्रिकोण को नहीं मानते। उनके अनुसार - **सृष्टि में एक ही परमसत्ता है, जिसे परमात्मा, परमतत्त्व या ब्रह्म जो कहना हो कहें। जीव और जगत की क्षणिक एवं नश्वर होने से कोई सत्ता नहीं है। माया के कारण ही इनका आभास होता है।** द्वैतवादी श्री माधवाचार्यजी, श्री शङ्कराचार्य जी के मायावाद को नकार कर कहते हैं, कि पदार्थों के गुणों के ज्ञान से तात्पर्य होता है उन्हें अन्य से भिन्न रूप में जानना। क्षणिक और नश्वर होने का तर्क देकर उनकी सत्ता को नकारा नहीं जा सकता। पर श्री शङ्कराचार्य जी स्पष्ट करते हैं, **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव ना परः'**। अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है और जीव भी ब्रह्म ही है दूसरा नहीं। अगर यह पूछा जाय कि इन्द्रियों से अनुभूत होने वाला यह साक्षात जगत मिथ्या कैसे हुवा? तो अद्वैतवादी बतलाते हैं कि, एक ब्रह्म की ही वास्तविक सत्ता होती है, बाकी दोनों **ब्रह्म की मायाशक्ति रूप अविद्या के कारण जीव और जगत रूप से भासते हैं।** अज्ञान रूप माया अनादि और अनन्त हैं, और उसमें **'आवरण'** और **'विक्षेप'** दो शक्तियां होती है। आवरण शक्ति से छिपा हुवा निर्गुण अकर्ता ब्रह्म सगुण, ईश्वर रूप से आभासित होता है और सृष्टि के रचयिता के रूप से जाना जाता है। तब माया अपनी विक्षेप शक्ति द्वारा एक ही अद्वितीय ब्रह्म को अनेकों जीवों और पदार्थों के रूप में प्रक्षेपण करती है। इस प्रकार ये जगत के पदार्थ वास्तविक नहीं होते वरन् माया के द्वारा उत्पन्न भ्रम से देखने में आते हैं उसी प्रकार जैसे मृगतृष्णा में जल दिखाई देता है, जिसका वहां वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। माया से उत्पन्न भ्रम से ही निर्विकार और स्वतंत्र ब्रह्मरूप आत्मा शरीरों में बद्ध और सांसारिक विषयों का भोक्ता जीव आभासित होता है और अनेक पदार्थों रूपों वाला जगत सत्य प्रतीत होता है। माया से ही ब्रह्म और उसका अंश जीव भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। **अद्वैत मतानुसार आत्मा नित्य एवं स्वतंत्र होती है और कभी**

बन्धनों में नहीं पड़ सकती। अज्ञान से ही आत्मा जीव रूप से बद्ध भासती है। माया रूप अज्ञान ही जीव के दुःखों का कारण होता है, जिसका निराकरण आत्मज्ञान पाने से होता है। यही जीव की मुक्ति कही जाती है। श्री शङ्कराचार्य जी के अनुसार हम अज्ञान के वशीभूत होकर ही ब्रह्म रूप आत्मा को जीव रूप से कर्ता और भोक्ता समझते हैं और अपने शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि जैसी जड़ वस्तुओं को चेतन आत्मा मानते है। अपने अन्तर्निहित इसी अज्ञान के कारण ही बार-बार जन्म-मरण रूप संसृति बंधन का दुःख पाते हैं। इससे छुटकारा पाने को हमें **'अहं ब्रह्मास्मि'** (मैं सनातन ब्रह्म रूप सत्ता हूँ) के आत्मज्ञान का आभास होना चाहिये, जिससे ब्रह्म, जीव और जगत के भेद दूर हों और जीव सच्चिदानंद ब्रह्म के रूप से आभासित होकर अपनी व्यष्टि रूप सीमा को पार कर समष्टि रूप अनन्त बृहद् ब्रह्म समान विस्तार पा जाता है। और अंश अंशी में समा जाता है। **अद्वैतवाद में यही मुक्ति है।**

'ब्रह्म' में - **सत्** (सत्ता या अस्तित्व), **चिद्** (ज्ञान या आभास) और **आनन्द** (आकर्षण) - ये तीन गुण होते हैं। सभी सांसारिक पदार्थों में भी **सत्ता, आभास** और **आकर्षण** के साथ **रूप** और **नाम** समेत पांच गुण होते हैं। इसी कारण सांसारिक पदार्थ ब्रह्म आवेशित (ब्रह्ममय) कहे जाते हैं। नाम और रूप अविद्या जनित होने से विकृति वाले (परिवर्तन शील) सांसारिक गुण होते हैं। इसी से सच्चिदानन्दमय होने पर भी सांसारिक पदार्थ अपने नाम और रूपों से भिन्न भिन्न प्रकार के आभासित होते हैं। यह आभास माया के प्रभावसे ही होता है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार **कारण** कभी **कार्य** से भिन्न नहीं होता, क्योंकि कार्य की सत्ता कारण में ही निहित रहती है। जगत की सत्ता के पीछे भी ब्रह्म की ही, जगत्कारण होने से सत्ता होती है, और इस प्रकार दोनों एक ही तत्व हैं, पर अविद्या के कारण भिन्न ज्ञात होते हैं।

अद्वैत वेदान्त बताता है कि, जगत के सभी पदार्थों की उत्पत्ति **पृथ्वी, जल, तेज, वायु** और **आकाश** - पंच महाभूतों से प्रकृति द्वारा हुवी। सृष्टि हेतु पंचभूतों की सम्मिलन क्रिया **पंचीकरण** कही जाती है, जिससे महाभूत परस्पर संयोजित होकर **पंचीकृत महाभूत** बन जाते हैं, और अंडज, स्वेदज, उद्भिज तथा जरायुज शरीरों की सृष्टि करते हैं। यही सब चर-अचर एवं जड़-चेतन पदार्थों की सृष्टि करते हैं। पंचीकरण क्रिया में प्रत्येक महाभूत दो भागों में बंटकर प्रत्येक के आधे में अन्य चार महाभूतों के आधे के चार भागकर मिलनसे पञ्चीकृत महाभूत बनाते हैं: जैसे

$^१/_२$ आकाश+$^१/_८$ वायु +$^१/_८$तेज+$^१/_८$ जल+$^१/_८$पृथ्वी = **पंचीकृत आकाश**

$^१/_२$ वायु+$^१/_८$आकाश+$^१/_८$तेज+$^१/_८$जल+$^१/_८$पृथ्वी = **पंचीकृत वायु**

$^१/_२$तेज+$^१/_८$आकाश+$^१/_८$वायु+$^१/_८$जल+$^१/_८$पृथ्वी = **पंचीकृत तेज**

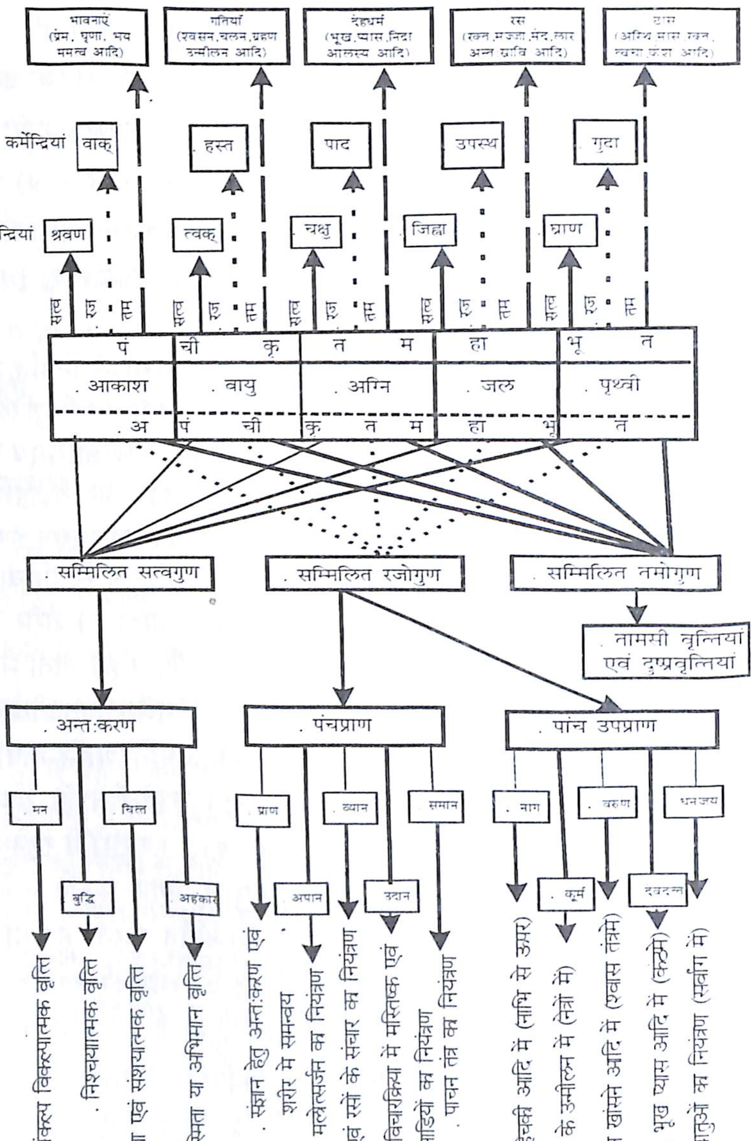
$^१/_२$ जल+$^१/_८$आकाश+$^१/_८$वायु+$^१/_८$तेज+$^१/_८$पृथ्वी = **पंचीकृत जल**

$^१/_२$पृथ्वी+$^१/_८$आकाश+$^१/_८$वायु+$^१/_८$तेज+$^१/_८$जल = **पंचीकृत पृथ्वी**

पंचीकृत आकाश से हमारी विविध भावनाऐं एवं मानसिकता, पंचीकृत वायु से गति, पंचीकृत तेज से भूख-प्यास-निद्रादि शरीर के धर्म, पंचीकृत जल तत्व से लार, रक्त, शुक्र , रजादि शरीर के रस और पंचीकृत पृथ्वी से अस्थि मांसादि शरीर के ठोस तत्व उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही अपञ्चीकृत (शुद्ध) पंचमहाभूतों के सम्मिलित सत्व गुणों से हमारा ज्ञान-साधन **अन्तःकरण**, इन्हींसे सम्मिलित रजोगुणों से **पांचों प्राण** तथा **पांच उपप्राण** और इनके सम्मिलित तमोगुणों से हमारे अन्तर में बसने वाले **षड्रिपु** रूपी **काम, क्रोधादि** दुष्प्रवृत्तियां बनती हैं। (अगले पृष्ट में दिये चित्र - '**पञ्चतत्त्वमय शरीर**' के अवलोकन से यह अधिक स्पष्ट हो सकेगा।) पञ्चीकृत महाभूतों के अलग-अलग सत्व गुणों से **पांच ज्ञानेन्द्रियां** और इनके रजोगुणों से **पांच कर्मेन्द्रियां** बनती है।

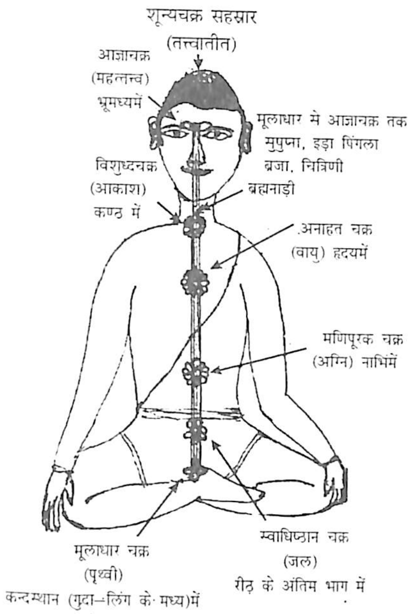
हमारे देह के सन्दर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्णजी के बचनों -'**तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् । सुख सङ्गेन बन्धाति ज्ञान सङ्गेन चानघ ।। रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् तन्निबघ्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।।**' (गीता -१४/६,७) का भी ऐसा ही तात्पर्य है। गीता के सप्तम अध्याय (ज्ञान-विज्ञान योग) में स्पष्ट कहा है कि मनुष्य देह, **पांचमहाभूतों, मनं, बुद्धि, अहंकार,** इन आठ **अपरा प्रकृति** के अवयवों से निर्मित होती है।

हमारे प्रारब्ध-कर्मों द्वारा निर्धारित, पञ्चतत्वों से निर्मित हमारा नाम-रूपात्मक शरीर **स्थूल शरीर** कहा जाता है। यही हमारी दुनियादारी और सुख--दु:ख भोगने का साधन होता है। हमारे पञ्चतत्वमय **सूक्ष्म शरीर** में **पांचप्राण, पांच उप्रपाण, अन्त:करण** और **दशइन्द्रियां** शामिल होती है। सूक्ष्म शरीर जीवात्मा के भोग करने का साधन है। इसी में जीवात्मा का कर्मसंग्रह होने से यही जीव की व्यष्टि रूप से पहिचान भी होती है और इसी कारण यह **लिङ्ग शरीर** भी कहा जाता है। शरीर शान्त होने पर यही आत्मा के साथ नये शरीर में चला जाता है। गीता में इसी आशय से भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है, -''**ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: । मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।। शरीरं यद्वान्पोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर:। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।**' (गीता - अ. १५/७,८) (शरीरों में रहनेवाला सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है जो जीवरूप से त्रिगुण प्रकृति में स्थित होकर भोग हेतु मन सहित ज्ञानेद्रियों को आकर्षित करता है। देह पर शासन करनेवाला यह जीवात्मा जब पुरानी देह को छोड़कर नई देह पाता है, तब उन छहों को अपने साथ लेकर वहां जाता है, उसी प्रकार जैसे वायु फूलों में से गन्ध को लेकर जाती है।) कपिल के सांख्यशास्त्रानुसार हमारे स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के निर्माण में **पञ्चीसतत्त्वों** का संयोजन होता है। ये तत्व हैं **पुरुष, प्रकृति, महत्** (समष्टि बुद्धि), **मन, अहंकार, पांच महाभूत, पांच उनकी तन्मात्रा** (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) **पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय।**

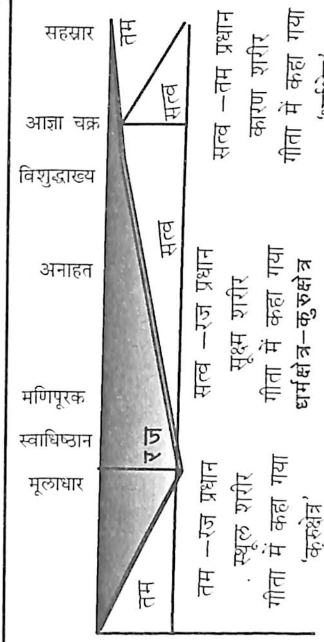


चित्र १

पञ्चतत्त्वमय शरीर



चित्र २
सहस्रार एवं षड्चक्र
(उनके तत्त्व एवं शरीर में स्थान)



चित्र ३
त्रिगुणात्मक त्रिशरीर
(स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर)

हमारे स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के भीतर रहने वाली **आत्मा** पांच कोशों के भीतर छिपी होती है। ये कोष प्याज के पर्तों की तरह एक दूसरे के भीतर क्रमशः **अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय** और **आनन्दमय** कहलाते हैं। सबके भीतर स्थित आनन्दमय कोष में शुद्ध-बुद्ध सूक्ष्म ईश्वर अंश आत्मा रहती है। **अन्नमय कोष** हमारा अन्न पोषित स्थूल शरीर है इसके भीतर अन्नमय कोष से सूक्ष्म **प्राणमय कोष** है, जो जीव के गर्भ में आने के समय बनता है और मृत्यु के समय शरीर को छोड़

देता है। यह पांच प्राणों, पांच उपप्राणों और पांच कर्मेन्द्रियों से संयोजित रहता है और यही हमें भूख-प्यास आदि देहधर्मों का अनुभव कराता है। ये दोनों अन्नमय और प्राणमय कोष मनुष्याकार आभामण्डल (औरा) वाले होते है। प्राणमय कोष के भीतर उससे सूक्ष्म **मनोमय कोष** रहता है। इसी में हमारी अच्छी बुरी भावनाऐं रहती हैं। यह कोष पांच ज्ञानेन्द्रियों मन और अहंकार से मिलकर बना होता है, और हमें 'मेरा-तेरा' का बोध और जाने-देखे हुवे नामरूपात्मक सांसारिक वस्तुओं एवं स्मृति में रहने वाली घटनाओं व्यक्तिओं आदिका बोध कराता है, यही जीवात्मा का भोग साधन होने से इन्द्रियों को विषयों में प्रेरित करता है। और इसे योग द्वारा साधकर 'आत्मबोध' की प्राप्ति होकर परमार्थ का मार्ग प्रशस्त होता है। मनोमय कोष के भीतर इस से सूक्ष्म अन्तःकरण को प्रकाशित करने वाला **विज्ञानमय कोष** स्थित है, जिसके अन्तर्गत हमारी पाचों ज्ञानेन्द्रियां और बुद्धि सम्मिलित रहती है । चेतनात्मा के प्रकाश से विज्ञानमय कोष जड़ होने पर भी चेतन समान आभासित होता है। इसी में आत्मा का बिम्ब रूप स्थित, अस्मितायुक्त **जीव** कहलाता है और यहीं जीव के, उसके कर्मफलों के अनुसार उसके जन्मों का विधान भी होता है। मनोमय और विज्ञानमय दोनों ही कोष सूक्ष्म एवं जीवाकार होते हैं। इसके भीतर सूक्ष्मतम **आनन्दमय कोष** रहता है जो उसमें रहने वाली चेतनात्मा के प्रभाव से आनन्दमय होती है और प्राणी को सुखानुभूति कराती है। यही सुख सच्चिदानन्दरूप अन्तरात्मा के प्रकाश के बुद्धि में आलोकित होने से प्राप्त होता है। और इच्छापूर्ति होने या किसी सत्कार्य अथवा परोपकार में लगने से अन्तःकरण में स्वयंस्फूर्त सुख-भावना के रूप से अनुभूत होता है। आनन्दमय कोष में अनादि अविद्या का वास होने से विज्ञानमय कोष में पड़नेवाला निर्मल आत्मा का प्रतिबिम्ब, अविद्या से संयोजित होने से कर्ता -भोक्ता जीव के रूप में भासता है। आत्मा का आवरण होने से, अविद्या से संयुक्त रहने पर भी आनन्दमय कोष ज्योतिर्मय रहता है,

अविद्या ही जीव के जन्म-मृत्यु रूप संसृति चक्र में पड़ने का कारण होने से आनन्दमय कोष **कारण शरीर** भी कहा जाता है।

हमारे शरीर में जीव रूप से बसी चेतना चार दशाओं में रहती है।

१. जागृति अवस्था

जब मन, इन्द्रिय और शरीर अपने अपने कामों में लगे रहते हैं। इस काल में हमारी व्यष्टि चेतना **वैश्वानर** कही जाती है और विश्वात्मा रूपी समष्टि चेतना (परमात्मा का स्वरूप) **विश्व** (सृष्टि रूप) होता है।

२ . स्वप्नावस्था

इस काल में जब हल्की निद्रा रहती और स्वप्न दिखाई देते हैं, हमारी व्यष्टि चेतना **तेजस** रूप और समष्टि चेतना **हिरण्यगर्भ** (सृष्टि आधार) रूप होती है,। जागृति और स्वप्न दोनों दशाओं में हमारा मनोमय कोष सक्रिय रहता है, जिसके कारण इन दोनों ही दशाओं में हमें सुख-दुःख का अनुभव होता रहता है।

३. सुषुप्तावस्था

गहरी नींद में जब हमारी व्यष्टि चेतना **प्राज्ञ** और समष्टि चेतना **ईश** (सृष्टि कारण) होती है, मन अविद्या में लय हो जाता है और इससे कुछ कुछ समाधि जैसी अवस्था हो जाती है। इसी से प्रगाढ़ निद्रा में हमें सुख-दुःख, राग-द्वेष, इच्छा-लोभ आदि मनोवृत्तियों का अनुभव नहीं होता। मन के लय होने से आत्मानुभव होने जैसी दशा होने से गाढ़ी नींद आने पर हमें अनिर्वचनीय सुख और शान्ति का अनुभव होता है। पर मन और ज्ञानेन्द्रियों के लुप्त होने से इस अवस्था में ज्ञान नहीं रहता और यह समाधि से निम्न स्तर की ही दशा होती है।

४. तुरीयावस्था

चेतना की यह चौथी दशा समाधि स्वरूप ही होती है, जिसे अष्टांग योग के साधनों- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान से प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी आत्मनिष्ठ दशा में व्यष्टि चेतना **आत्मा** और समष्टि चेतना **ब्रह्म** हो जाती है। इसी दशा में

तत्त्वज्ञान से मोक्ष की सिद्धि होती है।

शरीर को चेतना देने और ऊर्जित करने वाले **प्राण** हमारे जीवनाधार होते हैं **सूक्ष्मप्राण** ही हमारे शरीर के सभी अंगों का कार्य संचालन के लिये आवश्यक होते हैं और यह हमें अपनी श्वसन क्रिया द्वारा वायु से प्राप्त होता है। जैसे प्राणवायु (आक्सीजन) हमारे स्थूल शरीर के लिये आवश्यक होती है, सूक्ष्म प्राण हमारे सूक्ष्म शरीर का पोषक होता है। सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्मप्राण नाड़ी संस्थान से प्रवाहित होते हैं और हमारे शरीर के अङ्गों का संचालन एवं नियंत्रण करते है। हमारे सोच-विचार के कार्य और मानसिक संकल्पों के लिये सूक्ष्मप्राणों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। हमारी अधिकतर शारीरिक व्याधियां सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर से उपजती हैं और प्राणों की कमी से पैदा होती हैं, तभी प्राणायाम क्रिया से प्राणों को नियमित कर रोगों की संभावना कम की जा सकती है। योग शास्त्र के अनुसार सूक्ष्म शरीर में **७२,०००** सूक्ष्म नाड़ियों का जाल सा बिछा होता है। ये नाड़ियां मूलाधार से निकल कर सारे शरीर में फैली रहती है। **मूलाधार चक्र** में **कुण्डलिनी शक्ति** (आत्मशक्ति) सुषुम्ना नाड़ी के मुख में साढ़ेतीन आटों में सर्प के समान कुण्डल बना सुप्त होकर रहती है। योगी इसे योग साधना द्वारा जागृत कर शरीर के सूक्ष्म **षट् चक्रों - मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र** - का भेदन कर **सहस्रार चक्र** में पहुंचाकर समाधि सुख की प्राप्ति करते हैं। ये चक्र शरीर के मुख्य नाड़ी केन्द्र हैं, जहां से शरीर के सभी अंगोंमें प्राण-पोषण हेतु अन्य नाड़ियां जाती हैं। मुख्य नाड़ी **सुषुम्ना** के बांयें **इड़ा** (चन्द्रनाड़ी) ओर दाहिने **पिंगला** (सूर्यनाड़ी) स्थित है। अन्य प्रमुख नाड़ियों के नाम हैं - **बज्रा, चित्रिणी** और **ब्रह्मनाड़ी।**

मुख्य प्राण शरीर में स्थिति और अपने कार्य के अनुसार पांच प्रकार के हैं ।

१. **प्राण** - इसका स्थान नासिका है और इसका कार्य सामान्य अनुभवों हेतु अन्तःकरण में समन्वय करना होता है।

२. **अपान** - इसका स्थान पेट, गुदा और उपस्थ है। यही शरीर के मलउत्सर्जन में सहायता करता है।

३. **व्यान** - यह सभी अंगों में प्रवाहित हो रक्त और रस संचार करता है।

४. **उदान** - यह मस्तिष्क और नाड़ीं-संस्थान में स्थित होकर उनका पोषण और चित्त और मस्तिष्क की विचारण क्रिया का नियंत्रण करता है।

५. **समान** - यह नाभि और उदर में प्रवाहित होकर पाचन-तत्व को नियंत्रित करता है। पांच मुख्य प्राणों के अलावा **नाग, कूर्म, क्रिकल, देवदत्त** और **धनंजय - पांच उपप्राण** भी हैं जो साधारणत: **वायु** भी कहे जाते हैं।

योग शास्त्र में कहा गया हैं -'**उद्गारे नाग आख्यात: कूर्म उन्मीलने स्मृत:। कृकलो क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ।। न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनंजय: । एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीव रूपिण:।।**' (स्वरयोग - शिव स्रोदय - ४६,४७) । (डकार और हिचकी आने में नाग, नेत्रोन्मीलन में कूर्म, छींकने में कृकल और जंभाने में देवदत्त वायु कार्य करती है। धनंज्ञय वायु सारे शरीर में व्याप्त रहता है और मृत शरीर को भी नहीं छोड़ता है। ये सभी वायु नाड़ियों में चेतना शक्ति के रुप से भ्रमण करते हैं।)

हमारी आत्मा जन्म से मृत्युपर्यंत हमारे शरीर में रहती है और हमारे सभी कर्मों की प्रेरक और साक्षी बनती है। यही **मैं** रूप से हमारी अस्मिता और विशिष्ट पहिचान भी होती है। पर हम अपनी इन्द्रियों द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि हमें सांसारिक विषयों का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध सम्बन्धी ज्ञान देनेवाली हमारी ज्ञानेन्द्रियां बहिर्मुखी होती हैं और हमारी अन्त:स्थित आत्मा इनकी पहुंच से परे होती हैं । फिर आत्मा के ही आश्रय से चेतना-प्राप्त इन्द्रियां परमचैतन्य आत्मा का ज्ञान कैसे पा सकती हैं? गीता - अ**२/४२** बतलाती

है। - '**इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य: परं मन:। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे:परतस्तु स:।।**' अर्थात् इन्द्रियों को परे (सूक्ष्म और बलवान) कहा जाता है, पर इन्द्रियों से मन, मन से भी बुद्धि और बुद्धि से भी परे आत्मा हैं।) कठोपनिषद - **१/३/१०** में यही कहा गया है -'**इन्द्रियेभ्य: परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मन:। मनसस्तु परा बुद्धिरात्मा महान पर:।।**' (इन्द्रियों से परे उनके विषय, विषयों से परे मन, मन से परे बुद्धि और महान आत्मा बुद्धि से भी परे है) शरीर के पांचों कोष, हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर आत्मदर्शन के बाधक उपाधि कहे जाते हैं। वासना और अहंकार को दूर कर शुद्ध मन और विवेक बुद्धि (विज्ञान) से इन कोषों का भेदन् करने से इनके अन्दर छिपी परम बोध रूप साक्षी आत्मा का आभास पाया जा सकता है। विवेक चूडामणि में श्री शङ्कराचार्य जी ने कहा है -'**पञ्चानामपि कोशानां निषेधे युक्तित: श्रुते। तन्निषेधावधि साक्षी बोधरूपोऽवशिष्यते।।**' (वि.चू. - **२१०**) (श्रुति ज्ञान से विचारपूर्वक (श्रवण, मनन, निदिध्यासनद्वारा) पांचों कोषों को नकार कर अर्थात् इनका भेदन कर, इसी निषेधावधि में ही साक्षी और बोधरूप आत्मा अपना आभास देती है)।

वेदान्त दर्शन बतलाता है कि अज्ञान से उत्पन्न अध्यारोप के कारण ही पदार्थ अपने वास्तविक रूप में प्रतीत नहीं होते और भिन्न प्रकार से भासित होते हैं। जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति, सीप में चांदी, या मृगमरीचिका में जल का आभास। इसी प्रकार अज्ञान के अध्यारोप से जड़ शरीर मन और इन्द्रियों के शुद्ध चैतन्य आत्मा होने का भ्रम होता है और अनादि देशकाल से परे कारणरहित आत्मा कर्ता, भोक्ता, जन्म-मृत्यु से ग्रसित सांसारिक जीव प्रतीत होती है। तभी आत्म-तत्त्व के ज्ञान पाने को सम्यक् विवेक की आवश्यकता होती है जो विधि-निषेध द्वारा **नेति-नेति** कर अपवाद करते और **दृग्-दृश्य, विषयी-विषय** और **अहम्-इदम्** रूप से आत्मानुसंधान करने से प्राप्त होता है। विवेक चूड़ामणि में शंकराचार्य जी बतलाते हैं कि ज्ञानियों को अनात्म शरीर मन इन्द्रियादि में **अहं-मम**

जैसी भावना को निरस्तकर आत्मा के प्रति इनके सभी रूपों में **सोऽहं** या **हंसः** धारणा करनी चाहिये। पर आत्मा का ठीक विचार करना अलग हम अपने व्यवहार में भी आत्मा के प्रति जागरूक नहीं रहते, अन्तरात्मा की आवाज की अवहेलना कर सदा दूसरों की नकल करने की चेष्टा करते हैं। अपने जड़ शरीर के आवेगों को सदा प्राथमिकता देकर शरीर के पोषण को जीवन का मुख्य ध्येय मान लेते हैं और यह भूल जाते हैं कि जैसे स्थूल शरीर के पोषण के लिये उचित और पौष्टिक भोजन चाहिए, वैसे ही मन और बुद्धि के उचित पोषण के लिये आध्यात्मिक ज्ञान और सत्साहित्य का अनुशीलन आवश्यक है। यही कारण है कि हमारे व्यवहार और कर्म बहुधा **ऐषणा** और **वासनाओं** को मान्यता देनेसे नितान्त स्वार्थ परक हो जाते हैं, जिनके सम्पादन में हमारे द्वारा अन्तरात्मा के विवेक पूर्ण आवाज को अनसुनी कर दी जाती है। वस्तुत: यही आज समाज में विद्रूपता और कदाचार का कारण है। इस प्रकार न भौतिक उन्नति संभव है न आध्यात्मिक। आज भौतिक सुख सर्वोपरि माने जाते हैं पर अपने अन्तर में भरे खालीपन और अवसाद की फिकर कहीं नहीं दिखाई देती। ऐसे में सुख प्राप्ति कैसे? शंकराचार्य जी विवेक चूड़ामणि में कहते हैं **'लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनं । शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्या सापनय कुरु।। लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयापि च देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते।।'** (विवेक चूड़ामणि - **२७०,२७१**) अर्थात् सांसारिक स्वार्थयुक्त व्यवहार और अन्धवृत्ति को छोड़कर और देह को प्राथमिकता देकर किये जानेवाले व्यवहार को भी छोड़, शास्त्रों के अन्धानुकरण की वृत्ति को छोड़ कर अपने -'मैं शरीर बुद्धि मन अन्त:करण हूं' के अध्यास को मिटाने का उपक्रम करो। क्योंकि अपनी वासनाओं के कारण, और देह को प्राथमिकता देने वाले वासनामय ज्ञान वाले शास्त्रों के अध्ययन को महत्व देने से, तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पाती।) परन्तु इस **अणोरणीयां महतो महीयान्** (सूक्ष्म अणु से भी सूक्ष्म और महत्तम से भी महान) आत्मा का ज्ञान पा सकना सहज नहीं है। इसके लिये निष्ठा और सतत

प्रयत्न होना आवश्यक है। उपनिषद कहते हैं -**'नायमात्वा प्रवचेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यनेवैष वृणुते तेन लभ्यस्त्यैष आत्मा विवृणते तनुं स्वाम्।'** (मुण्डक उ. ३/२/३ कठ. उ. १/२/१२३) (यह आत्मा न ज्ञान की बातें कहने सुनने से, न बुद्धि न शास्त्र श्रवण सेही ज्ञात होती है। इसे वही जान सकते हैं जिसको यह स्वयं अपने को जता देती है।) गोस्वामी तुलसीदास जी भी राम चरितमानस में यही बताते हैं - **'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई, जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।'** गीता में भगवान श्रीकृष्ण भी कहते हैं **''तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।। तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः नाशयात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।''** (गीता अ. १०/१०,११) (सदा ध्यानरत रहने वाले भक्तों को मैं अपना तत्त्व-ज्ञान दे देता हूं, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं। उन्हीं पर अनुकम्पा करने हेतु मैं उनके अन्तर के अज्ञान को ज्ञान-दीप प्रकाशित कर नष्ट कर देता हूँ।)

आत्मबोध में शंकराचार्य जी ने सुगम और सरल ढंग से आत्मा का परिचय करा कर अविद्या को नष्ट करने की तरकीब बताई है। अपने दूसरे आत्मज्ञान के ग्रन्थ **विवेक चूड़ामणि** में उन्होंने गुरु-शिष्य संवाद के रूप में आध्यात्म को विस्तार से कहा है पर आत्मबोध में उसे सारांश रूप से मात्र ६८ श्लोकों में बतलाकर इस ग्रन्थ को सर्व-जन हितकारी और उपयोगी बना दिया है। इसी से अद्वैत वेदान्त मत के प्रवर्तक , महान विचारक एवं तत्त्वज्ञानी शंकराचार्य जी को उनके ज्ञान और कार्यों से व्यास एवं वशिष्ठ जैसे महर्षियों के समान आदर प्राप्त है, **'व्यासाय विष्णु रूपाय शिव रूपाय शंकरं। नमो वै ब्रह्मनिधये वशिष्ठाय नमो नमः।'** (मैं ब्रह्मज्ञानी विष्णु रूप व्यास, शिवरूप शंकर के साथ ही ब्रह्मज्ञान को प्राप्त वशिष्ठ को भी नमन करता हूँ।) ईसापूर्व पांचवी सदी में जब शङ्कराचार्य का जन्म एक नम्बूदरी ब्राह्मण परिवार में मलावार (केरल) में हुवा, तब हिन्दू धर्म अनेक विकृतियों से ग्रस्त था। उस काल में बौद्ध धर्म

का प्रभुत्व और तन्त्र, कापालिक एवं अनेकों पाखण्ड और अन्धविश्वासों से समाज दिग्भ्रमित सा हो गया था। ऐसे में शङ्कराचार्य जी ने धर्म को आध्यात्मसे जोड़कर **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** रूप निष्ठा वाले अद्वैत वेदान्त का प्रवर्तन किया और हिन्दू धर्म को दार्शनिक एवं बौद्धिक रूप से सम्पन्न कर, उसको संसार के महान धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया। धर्म के प्रचार के लिये उन्होंने देश के चार कोणों मे चार मठ स्थापित किये -बदरिकाश्रम (उत्तरमें) ज्योतिर्मठ, जगन्नाथ पुरी (पूर्व में) गोवर्धन पीठ, मैसूर श्रृङ्गगिरी (दक्षिण में) श्रृङ्गेरी मठ और द्वारका गुजरात (पश्चिम में) शारदा पीठ। अपनी मात्र ३२ वर्ष के जीवन काल में उन्होंने गीता, वेदान्त सूत्र और सभी उपनिषदों पर भाष्य, अनेकों देवी देवताओं की स्तुति - स्तोत्र और अनेक उपदेशात्मक ग्रन्थ लिखकर हिन्दूवाङ्मय को समृद्ध किया । निर्गुण अद्वैतवाद ही नहीं सगुणोपासक भक्तों के लिये भी उन्होंने उत्कृष्ट स्तोत्र रचे, उनके द्वारा रचित उच्च कोटिके ग्रन्थों की संख्या लगभग २७२ बतलाई जाती है, जिससे उन्हें एक महान धर्माचार्य और समाज सुधारक ही नहीं एक महान कवि के रूप में भी माना जाता है, और जगद्गुरु के रूप से उन्हें ज्ञानमूर्ति शिव के अवतार रूप में स्मरण किया जाता है।

वर्तमान काल के तत्त्व ज्ञानियों में महर्षि रमण का भी परमहंस रामकृष्ण और महर्षि अरविन्द जैसे मनीषियों के साथ सम्माननीय स्थान है। वेंकटरामन - (महर्षि रमण का संस्कार नाम) - का जन्म सन् १८७६ में मदुरै नगर हुवा था। वे बचपन से ही अन्तर्दृष्टा और एकांतप्रिय थे और अकेले घंटों विचार की स्थिति में रहते थे। स्कूली शिक्षा में विशेष रुचि न होने पर भी वे अन्तर्ज्ञान (इन्ट्यूशन) के साथ तीक्ष्ण स्मृति से सम्पन्न थे। उनकी आध्यात्मिक प्रबुद्धता और चिन्तन शक्ति अत्यन्त प्रभावशाली थी। वे वक्त-वक्त पर सहज ही समाधि जैसी स्थिति प्राप्त कर लेते थे, जिससे लोग समझते थे वे गहरी निद्रा में हैं। १५-१६ वर्ष के वेंकटरामन जब मदुरै में अपने चाचा के घर के दुमंजिले में रहते थे, वहीं एक दिन उन्होंने समाधिस्थ अवस्था में आभास किया कि वे मर गये हैं, सामने उनकी

निर्जीव देह पड़ी हैं और वे स्वयं देख रहे हैं कि लोग उनकी मृत देह को श्मशान ले जाने की तय्यारी कर रहे हैं जहां उनकी देह भस्म में परिणत हो जायेगी। तभी उनके अन्तर में ज्ञान उदित हुवा **'मैं तो शरीर के मरने पर भी जीवित हूँ, और शरीरों के जन्मने -मरने का साक्षी रहता हूँ। मैं शरीर से अन्य ही हूं। पञ्चतत्वों से निर्मित इन शरीरों की जन्म-मृत्यु होती रहती है। मैं शाश्वत चैतन्य हूँ जन्म मृत्यु जैसे सभी द्वन्द्वों से परे।'** रमण महर्षि ने घटना का उल्लेख करते हुवे बताया कि, वे एक घण्टे से अधिक समाधि की दशा में रहे और वापस सहज अवस्था में आने पर अपने आसपास इकट्ठे लोगों की भीड़ देखी जो उनकी दशा से चिन्तित प्रतीत हो रहे थे, पर अब उनको गहरी निद्रा में जान कर आश्वस्त हो गये थे। तब से उनके ध्यान में समष्टि चेतना केन्द्रित हो जाती थी और वे घण्टों आत्मरत रहते थे। इस प्रकार एक घंटे भर में ही **'वेंकटरमन'** आत्मज्ञानी **रमण महर्षि** बन गये थे। उन्होंने अपना वेंकटरमण नाम और मदुरै स्थित आवास को छोड़ बिल्लूपुरम् - अरुणाचल पर्वत में **रमणाश्रम** को अपना वास बनाया। वहीं अप्रेल **१६५०** में उन्होंने देह छोड़ी। अपने भक्तों में **'भगवान'** संज्ञा से विख्यात आत्मज्ञानी महर्षि रमण ने अहंकार के स्फुरण से बार-बार मन में उठते **'अहं'** को **'मैं कौन?'** की निरन्तर जिज्ञासा द्वारा मन को अन्तर्मुखी बनाकर आत्मानुभव की सरल विधियुक्त पुस्तक के अलावा तामिल एवं संस्कृत में अनेक आध्यात्म संबंधी गद्य-पद्य रचनाऐं की हैं, जिनमें **विचारमणिमाला, अरुणाचल स्तुति, आत्मसाक्षात्कार** एवं **उपदेश सारम्** प्रमुख हैं। महर्षि आत्म-ज्ञान पाने के लिये संसार का त्याग कर सन्यस्त होना आवश्यक नहीं मानते, उनका कहना है कि एकान्त सेवन ही आत्मज्ञान-साधना में सहायक होता है। तपस्या या किसी भी प्रकार से शरीर को कष्ट देने वाली साधना के भी वे विरुद्ध थे। वे मौन व्रत धारण को भी आत्मज्ञान साधना से संबंधित न कह, उसे मात्र मानसिक उर्जा के अपव्यय को रोकने का साधन मानते थे। अपने उपदेशों में उन्होंने कहा है कि मन की शुचिता का रहस्य, मात्र

अपने अहंकार का त्याग कर अपने कर्तव्यों के सम्पादन में है। पुनर्जन्म के विषय में पूछने पर उन्होंने कहा था, - **'आत्मा शाश्वत और अमर है तब पुनर्जन्म किसका? हमारा अहंकार ही कई देहों में जन्मता-मरता है।'** गुरु के विषय में उनका कहना था कि हमारी आत्मा ही हमारी सच्ची गुरु होती है। यही हमें सन्मार्ग में लगानेवाली होती है। लौकिक गुरु की भूमिका तो बस इतनी ही होती है कि वह अज्ञानी को यह तथ्य समझा दे कि इन्द्रियों से हमें जो भी आभास होता है वह असत् है। सत् रूप तो केवल चेतनात्मा ही है। आत्मज्ञान होने पर न गुरु की सत्ता रहती है नही शिष्य की **तब तो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञान का विषय सभी एकाकार हो आत्मा में लय हो जाते है।** महर्षि रमण ने संस्कृत, तमिल और अंग्रेजी में आत्मज्ञान एवं आध्यात्मिक तत्व पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। **उपदेश सारम्** उनके द्वारा रचित आध्यात्म सम्बन्धी ३० पदों का तमिल से उन्हीं का किया रूपान्तर है। इसके बारे में कहा जाता है कि तमिल कवि मुरुगूनार एक काव्य लिख रहे थे, जिसका कथानक था कि कुछ ऋषियों ने कई अनुष्ठान और कर्म-काण्डों द्वारा अलौकिक सिद्धियां प्राप्त कर लीं थी। तब उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति के लिये भी अनुष्ठानों का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। तभी शिवजी एक योगी के सौम्य वेष में और श्री विष्णु मोहिनी रूप में वहां प्रकट हुवे। मोहिनी को देख सभी ऋषि अपने अनुष्ठान छोड़ उनकी ओर आकर्षित हो गये और ऋषिपत्नियां शिव के योगीश्वर रूप से अभिभूत हो गई। ऋषियों ने अपने अनुष्ठान में इस प्रकार विघ्न पड़ते देख अपनी सिद्धियों का प्रयोग कर एक बाघ और एक हाथी को उनकी ओर प्रेरित किया, पर शिव जी ने दोनों को मारकर उनकी खाल को वस्त्र रूप से धारण कर लिया। तब ऋषियों ने यह जानकर कि ये उनकी प्राप्त की गई सिद्धियों से कहीं अधिक बलवान हैं, शिवजी के चरणों पर गिर, उनसे मोक्ष देने वाला ज्ञान देने की प्रार्थना की। तभी शिव जी ने उन्हें समझाया कि मोक्ष, कर्मों के अनुष्ठान से नहीं प्राप्त होता, बल्कि तत्त्वज्ञान से मिलता है। कवि मुरुगूनार जब अपने काव्य के चरम में पहुंचे जहां शिव जी

ऋषियों को ज्ञान का उपदेश देते हैं, तभी वे महर्षि रमण के पास गये और उनसे अपने शब्दों में वह ज्ञान लिखने की प्रार्थना की। इस प्रकार महर्षि रमण ने तीस पदों में तामिल में कविता लिखी, जिसको मुरुगूनार ने अपने काव्य में सम्मिलित किया। बाद में महर्षि ने स्वयं उन तीस तामिल पदों का, संस्कृत में **'उपदेश-सारम्'** नाम से अनुवाद किया। महर्षि के मुखारविन्द से निसृत इन श्लोकों में उपनिषदों के कर्म, भक्ति और ज्ञान का आध्यात्मिक निरूपण मिलता है, इसी से इसकी मान्यता आधुनिक उपनिषद के रूप में है।

अद्वैत मकरन्द आध्यात्म-तत्त्व का बोध कराने वाला एक मननात्मक ग्रन्थ है। इसके रचयिता श्री लक्ष्मीधर कवि ओडीसा के जगन्नाथ क्षेत्र के निवासी विद्वान थे। १७ वीं शताब्दी में वे कुमांऊ के तत्कालीन राजा बाजबहादुर चन्द (सन् १६३८- से सन् १६७८) के दरबार में राजकवि थे। तराई भावर के बाजपुर शहर को बसाने वाले बाज बहादुर चन्द की धर्म में आस्था थी और उन्होंने विद्वान लक्ष्मीघर जी को राज्याश्रय देकर सम्मानित किया। लक्ष्मीघर जी ने **'अद्वैत मकरन्द'** के अलावा **'अमृत तरंगिणी'** नामक श्रीमद्भगवद्गीता की संस्कृत में टीका लिखी और भगवन्नाम कौमुदी नामक ईश्वरनामों की महत्ता के ज्ञापक ग्रन्थ की रचना की।

अद्वैत मकरन्द में उन्होंने आत्मा का निरूपण **'प्रमेय-असम्भावना'** अर्थात् मात्र तर्कों के आधार पर विद्वत्तापूर्वक किया है। हम अपनी इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को सत्य मानकर उसी का विश्वास करते हैं और जब इन्द्रियानुभूत ज्ञान को श्रुति वचनों से भिन्न पाते हैं तब हम इन्द्रिय ज्ञान को नकार कर श्रुतिवचनों में भी विश्वास करने में असमर्थ होते हैं। यही दूसरे शब्दों में श्रद्धा का अभाव कहलाता है। जब श्रुति वचनों में हमारी पर्याप्त श्रद्धा होती है तब प्रत्यक्ष प्रमाण न होने पर या विपरीत होने पर भी तत्वज्ञान प्रमेय असंभावना विधि से अनुमान में आ सकता है। ज्ञान के साधनों में चाहे तुरन्त मिलने वाला प्रत्यक्ष इन्द्रिय ज्ञान श्रेष्ठ माना जाता

है पर यह सदा सत्य हो आवश्यक नहीं है। जैसे पानी नि:स्वाद होता है पर एक आंवले के फल को चबाने पर पानी पीने से मीठा लगता है। इसी प्रकार हमारी स्वादेन्द्रिय एक के बाद दूसरे भिन्न स्वाद चखने में गलती कर जाती है। कभी कभी हमारी त्वचा भी ठण्डे-गरम के ज्ञानमें भ्रमित हो जाती है। आखें भी सूर्य के तेज प्रकाश से एकाएक घर के भीतर आने पर प्रकाश का वास्तविक आकलन नहीं कर पातीं। मृगतृष्णा और इन्द्रधनुष वास्तविक न होकर दृष्टिभ्रम ही होते हैं। हमारे मन का धारणात्मक ज्ञान भी तात्विक संस्कार, परिस्थिति एवं विश्वास से प्रभावित रहता है। फिर इन्द्रियां हमें पदार्थों का अनुभवात्मक ज्ञान देने हेतु बहिर्मुखी होती हैं, इनसे न आत्मा का अनुभव हो सकता हैं और न तत्सम्बन्धी कोई ज्ञान ही। आत्मा कोई सांसारिक पदार्थ नहीं है, इसलिये आध्यात्मिक क्षेत्र में इन्द्रियों के अनुभवात्मक ज्ञान को छोड़ श्रुति-ज्ञान, आप्त वचन (सिद्ध महात्माओं के वचन) और अपने श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा वाङ्मयों के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान के आश्रय से आत्मा का ज्ञान पाने की संभावना होती है। जहां इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान निरवकाश (तुरन्त प्राप्त) होता है, श्रुतिवचनों और ग्रन्थों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन कर बारम्बार इन क्रियाओं की पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता होती है, इसलिये यह निरवकाश नहीं होकर अवकाश-बहुल होता है और धैर्य की अपेक्षा रखता है। इसमें एक और बाधा होती है जिसका निराकरण जिज्ञासु को सावधानी से करना आवश्यक है । वह बाधा है कि हम अपने शरीर और मन को ही अपने अज्ञान के कारण आत्मा मान लेते हैं। ऐसी धारणा आत्मा की प्रतीति में बाधक होती है। इसके अलावा श्रुति वाक्यों में भी कहीं कहीं ईश्वर, जीव, बन्ध, मोक्ष आदि के रहस्य-ज्ञान सम्बन्धी वाक्यों में द्वैत-धारणा वाले वाक्य मिलते हैं तथा कहीं एक श्रुति वचन दूसरी से विपरीत अर्थवान् प्रतीत होतीहै। ऐसे में ज्ञानियों के द्वारा किये भाष्यों और योग्य गुरु का मार्गदर्शन अपेक्षित होता है। साथ ही वेद, उपनिषद, गीता जैसे **प्रमाण ग्रन्थों** के अध्ययन के साथ तत्त्व-बोध करानेवाली कारिकादि **प्रकरण**

ग्रन्थ अष्टावक्र गीता, अवधूत गीता, पञ्चदशी, याज्ञवल्क्य स्मृति जैसे **सिद्धानुभव ग्रन्थ**, वेदान्तसार योग वाशिष्ठ जैसे अपरोक्षानुभूति कराने वाले **विज्ञान ग्रन्थ** और विवेक चूड़ामणि, आत्मबोध उपदेश सारम् अद्वैत मकरन्द जैसे मनीषियों द्वारा रचित असंख्य **मननात्मक ग्रन्थों** का अध्ययन करने से मार्ग स्पष्ट हो जाता है।

श्री शङ्कराचार्य जी का आत्मबोध, महर्षि रमण जी का उपदेश सारम्, और श्री लक्ष्मीघर कवि जी का अद्वैत मकरंद आत्म ज्ञान देने वाले, इन महात्माओं के द्वारा अनुभूत ज्ञानवाक्यों का संग्रह हैं, जिससे उन्होंने जिज्ञासुओं के लिये आध्यात्म-ज्ञान को बोध-गम्य कर दिया है। पर कठोपनिषद के वाक्य **'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गंपथस्तत्कवयो वदन्ति'**- के अनुसार, ज्ञानियों ने तत्वज्ञान के मार्ग पर चलना एक पैनी तलवार की धार पर चलने के समान माना है। जो ज्ञानी महात्मा इस मार्ग पर चले थे उन्होंने इसमें चार मुख्य बातें कहीं है।

(१) **ईश्वर कृपा** - जिससे ज्ञान-मार्ग में जाने की प्रेरणा जागृत होती है।

(२) **गुरु कृपा** - योग्य गुरु का मार्गदर्शन पा जाना ।

(३) **शास्त्र कृपा** - श्रुतियों के कहे तत्त्व ज्ञान को बुद्धि में उतार कर उस सत्य का अनुभव करना और

(४) **आत्म कृपा** - अपने में शिष्य रूप से ज्ञान साधना हेतु श्रद्धा और समर्पण की भावना होना जिससे अटूट लगन उत्पन्न हो।

इस प्रकार चार प्रकार से कृपापात्र बन कर ही तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, जैसा गीता में भी कहा गया है - **'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।'** मानव जीवन का गन्तव्य ही है अपने नैसर्गिक सद् चिद एवं आनन्द स्वरूप की प्राप्ति जिसमें प्राणी मात्र के प्रति - **'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।'** (सभी सुखी हों, सभी निरोग रहें, सभी का कल्याण हो, कोई भी दु:ख का भोगी न बने) की भावना स्वत: स्फूर्त होती है न कि धर्म जो इस गन्तव्य की प्राप्ति के मार्ग मात्र होते हैं। मुख्यता गन्तव्य की

ही है, कौन किस मार्ग से गन्तव्य को प्राप्त करता है यह गौण है। वेदान्त-दर्शन, मरणधर्मी मनुष्य के **'असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय।।'** के ज्ञान का संकल्प है, जिसकी पूर्णता शनैः शनैः उसकी आस्था के क्रमिक विकास से अज्ञान को नाश कर परिमार्जित अन्तःकरण से आत्मा की दिव्यता और परमात्मा की पूर्णता, सत्यता और सच्चिदानन्द स्वरूप के आभास की प्राप्ति की जा सकती है। द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्ठ-अद्वैत, रूप अपने सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार की आस्था को **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** रूप से पोषित कर साधक अद्वैत-दर्शनके विवेक द्वारा ही -

(१) परमात्मा के अंश रूप से **आत्मा की दिव्यता**

(२) ब्रह्म रूप से **एकमात्र परमात्मा की ही सर्वत्र स्थिति**

(३) एक ही परमचेतना के अंश होने से **न केवल मनुष्यों, वरन प्राणीमात्र में समता** तथा

(४) उस **'एकमात्र परमात्मा'** तक पहुचने का मार्ग होने से **सभी धर्मों में एकता**, की बुद्धि का विकास होता है। आत्मा की दिव्यता का ही अटूट विश्वास प्रजातंत्र, आत्मनिर्णय, स्वतंत्रता और आधुनिक युग के सभी मानवता वादी नीतियों के पीछे परोक्ष रूप से निहित है।

परन्तु, मानव स्वभाव की यह विचित्रता है, कि उसे परमात्मा की याद और आध्यात्म की प्रेरणा क्लेश प्राप्ति में ही हो पाती है। तत्वदर्शी रहीमदास जी ने इसीलिये कहा है, **'दुख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय'**। सुख-सम्पन्नता की स्थिति मनुष्य को बहिर्मुखी रखती है और उसे अपने अन्तर में झांकने नहीं देती। यही तो सांसारिक सुख का प्रभाव होता है । मुझे भी अस्सी दशक के आरम्भिक वर्षों में उत्पीडन की प्राप्ति से उद्विग्न होकर अवसाद और कष्ट का सामना करना पड़ा था। उसी काल में स्वामी विवेकानन्द, शिवानन्द और रंगनाथानन्द जी के कुछ उपदेशामृतों के अध्ययन से नैराश्य दूर होकर आध्यात्म की ओर जिज्ञासा

हुवी थी जिससे प्रेरित होकर कुछ आध्यात्म विषयक ग्रन्थों के पठन और मनन से मुझे अपनी मानसिकता में चमत्कारिक परिवर्तन का अनुभव हुवा, और अपने अन्तर के अवसाद के प्रतिकारी ईश्वरीय कृपा जैसी अहैतुकी आन्तरिक शक्ति का आभास पाकर, स्वयं को निर्भय और प्रकृतिस्थ अनुभव किया। तभी जुलाय **१९९२** में सेवानिवृत्त होने के उपरान्त अपने खाली समय के सदुपयोग हेतु अपने अध्ययन को लिपिबद्ध करने का संकल्प किया था, जिसकी परिणति - **ईशावास्योपनिषद - विवेचनात्मक अध्ययन, श्रीमद्भगवद्गीता-कुमाऊं नी छन्दानुवाद और आध्यात्म-त्रिवेणी** पुस्तकों के रूप में हुवी। (एक अन्य पुस्तक - 'श्री भर्तृहरि विरचित - **सुभाषितत्रिशतकम्** की हिन्दी पदों में प्रस्तुति और विवेचना' के रूप से लगभग पूर्णता की स्थिति में है।)

मैं, न कोई पाण्डित्ययुक्त उपदेशक या वक्ता हूं, और न अपने लेखन से मेरा ऐसा कोई आग्रह ही है। एक सामान्य भुक्तयोगी जिज्ञासु के रूप से आध्यात्म-तत्त्व को मैं जितना और जैसा अपनी बुद्धि से ग्रहण कर पाया, उसे व्यक्त करने का मेरा यह प्रयास कुछ उपादेय हो सके यही मेरा मन्तव्य है। इसी से मैं अपने श्रम की सार्थकता समझूंगा । इति।

स्वस्ति ते पन्थानः।

संवत्सर प्रतिपदा, सं. **२०६९**,
तदनुसार - **२२ मार्च २०१२**

ललितमोहन पन्त,
बी.९०१/९०२, रोहतास एपार्टमेंटस्,
विकासनगर - लखनऊ।
(पिन- **२०६०२२**)

इति

अथ श्री शङ्कराचार्य कृतं आत्मबोध:

(१)

तपोभि: क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम्।
मुमुक्षूणामपेक्ष्योऽयमात्मबोधो विधीयते ॥१॥

कठिन तपों से विनसे सब पाप
पाई शान्ति छोड़ सब राग।
मुमुक्षु जिनका ऐसा विधान
उन्हें समर्पित यह आत्मज्ञान॥

शास्त्रीय विधान के अनुसार ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण रूप से नमस्कार कर अथवा ग्रन्थ का उद्देश्य बताकर ग्रन्थ को समर्पित करने की परम्परा का निर्वाह यहां आचार्य श्री शङ्कर द्वारा किया गया है। गीता अध्याय - १७ श्लोकों १४,१५,१६ के अनुसार क्रमश: कायिक, वाचिक और मानसिक तपों के आचरण द्वारा सात्विक कर्म, वाणी और विचारों को आत्मसात् कर साधक मुक्ति पाने का उद्योग करते हैं और इस उपक्रम में जिनके पाप नष्ट होकर अन्त:करण शुद्ध और शान्त हो गया है, ऐसे ही मुमुक्षुओं को आचार्य '**आत्मबोध**' ग्रन्थ समर्पित कर रहे हैं।

आत्मज्ञान के साधकों के लिये वेदान्त दर्शन में **साधना चतुष्टय** का विधान बतलाया गया है। इसमें मुख्यत: मन को साधना से विरत न होने देने हेतु मन को साधने वाले प्रयोगों और मानसिक चेष्ठाओं का समावेश है, ये इस प्रकार हैं -

(१) **सत्-असत् विवेक** - देहादि सभी सांसारिक नश्वर वस्तुओं को 'असत्' मान, परमात्मा-आत्मा को ही 'सत्' जानने की बुद्धि को विकसित करना।

(२) **वैराग्य** - सांसारिक विषयों को दु:ख-मूल समझकर उनमें लिप्सा न रखने के गुण का विकास करना। यही गुण मनुष्य को वासना और तृष्णा से छुटकारा देता है और उसकी मन बुद्धि को स्थिरता प्रदान करता है। वैराग्य का अर्थ है सुख दु:ख के संबंध में समचित्त रहते हुये, सांसारिक विषयों से उदासीन रह कर व्यवहार करना।

(३) **षट्-सम्पत्ति** - इसमें सम्मिलित तत्त्व हैं -

(अ) **शम** - अन्त:करण की शान्ति,

(आ) **दम** - मन-इन्द्रियों पर नियन्त्रण होना जिससे सद्ज्ञान हेतु श्रवण, मनन, निदिध्यासन में विघ्न न हो,

(इ) **उपरति** - मन में विषयों के प्रति उपेक्षा रखने की प्रवृत्ति करना जिससे 'दम' द्वारा नियंत्रित मन विषयों की ओर उदासीन बने,

(ई) **तितिक्षा** - विषयों के इन्द्रियों से संयोग से उपजे कष्टों को धैर्य पूर्वक सहन करने की प्रवृत्ति जिससे सुख-दु:ख, शीत-उष्ण, उपेक्षा-प्रेम आदि द्वन्द्वों में सम और अविचलित रहने का गुण विकास पाता है।

(उ) **समाधान** - सदा भागते रहने वाले अस्थिर मन को ध्येय में केन्द्रित करना

(ऊ) **श्रद्धा** - गुरु एवं शास्त्र वचनों में निष्ठा, जिससे अन्तर्ज्ञान विकसित होकर तत्त्वज्ञान का मार्ग प्रशस्त होता है।

(४) **मुमुक्षत्व** - मोक्ष के लिये अत्यन्त लालसा । यह भक्ति का ही एक रूप है।

(२)

बोधोऽन्यसाधनेभ्यो हि साक्षान्मोक्षैकसाधनम्
पाकस्य वह्निवज्ज्ञानं विना मोक्षो न सिध्यति॥२॥

अविद्या - रज्जु से संसृति में बद्ध
जीव मुक्ति पाता है आत्मज्ञान से।
अन्न-जल-बर्तन होने पर भी भोजन
पक न पाता है बिन आग के ॥२॥

लौकिक व्यवहार में जैसे खाना पकाने को अग्नि आवश्यक होती है। वैसे ही मोक्ष प्राप्ति के लिये आत्मज्ञान आवश्यक होता है। मनुष्य जन्म-मृत्यु के संसृति चक्र में, अपने अन्तर में बसे रहने वाले अज्ञान के कारण ही पड़ता है। इसी कारण इससे छुटकारा पाने को मात्र ज्ञान ही अपेक्षित है। जैसे खाना पकाने के लिये सभी उपकरण और साधन होने पर भी विना अग्नि के पाक संभव नहीं होता। जैसे खाना पकाने को आग के साथ ही बर्तन, पानी भी चाहिये उसी प्रकार मुक्ति के लिये ज्ञानाग्नि को दीप्त करने हेतु तप, दान, अहिंसा सत्य आदि यम-नियमों का पालन अन्त:करण की शुद्धि हेतु चाहिये।

(३)

अविरोधितया कर्म नाविद्यां विनिवर्तयेत
विद्याविद्यां विहन्त्येव तेजस्तिमिरसङ्घवत्॥३॥

अज्ञान न कर्मों से विनाश पाता
दोनों में नहीं किंचिद् विद्वेष -नाता
जैसे तम प्रकाश से ही जाता
अज्ञान भी ज्ञान से ही नसाता॥

(४)

परिच्छन्न इवाज्ञानात्तन्नाशे सति केवलः।
स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा मेघापायेऽशुमानिव ॥४॥

अज्ञान से आवृत चेतनात्मा प्रकट
हो जाती अज्ञान के हटने से।
जैसे घटाच्छादित अंशुमान प्रकट
हो जाता घटा के हटने से ॥

अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मज्ञान मनुष्य के अन्तर में निहित है यह कोई प्राप्त की जाने वाली बाह्य वस्तु नहीं है वरन् अपने में ही पुनर्प्राप्ति जैसी है। इसी लिये घटा में छिपे सूर्य से उसकी उपमा दी गई है। सूर्य जैसे आकाश में अपनी ज्योति किरणों समेत है। केवल बादलों के छंटने से वह पुनः दीप्ति मान दृष्टिगोचर हो जाता है। यही बात आत्मा और ज्ञान के संबंध में है।

(५)

अज्ञान कलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद्विनिर्मलम्।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येज्जलं कतकरेणुवत्॥५॥

ज्ञान से निर्मलता पाता कलुषित
रहता जो अज्ञान मल से ही।
जैसे फिटकिरी काट देती मैल
जल का स्वयं लुप्त हो जल में ही॥

यहां ज्ञान का अभ्यास किस प्रकार अज्ञान युक्त जीवात्मा को शुद्ध करता है, दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं कि जैसे फिटकिरी का चूर्ण मैले

पानी में डालने से फिटकिरी उसमें घुलकर पानी के मैल को काट कर अलग कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान भी अज्ञान को नष्टकर स्वयं उस में एकाकार होकर अदृश्य हो जाता है। माया, अविद्या कहलानेवाले अज्ञान के कारण ही अद्वैत ब्रह्म अनेक चराचररूप से जगतरूप आभासित होता है। इसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती क्योंकि ज्ञान का अभाव ही अज्ञान है। पर यह रज्जु के सर्प की तरह असत् भी नहीं है और न सत् ही। इन्द्रियों से अनुभूत होने वाले जगत के नाम रूप वाले पदार्थों का कारण यही है। अज्ञान अनादि है और क्या इसका स्वरूप है? यह न बतलाये जा सकने के कारण 'अनिर्वाच्य' कहा जाता है। क्योंकि यह बुद्धि में रहता है इसलिये इसका अनुमान नहीं हो सकता।

इस अज्ञानमल के कारण ही अन्तःकरण में **मेरा, मैं, तेरा, तू** जैसी भावनाऐं घर करती है, अजन्मा-अमर सच्चिदानन्द आत्मा को सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु आदि द्वन्दों से युक्त समझना और उसे भोक्ता कर्ता मानना अज्ञान से ही होता है।

(६)

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसङ्कुलः।
स्वकाले सत्यवद्भाति प्रबोधे सत्यसद्भवेत्॥६॥

राग-द्वेष सुख-दुःख द्वन्दों से भरा ही
स्वप्न सा यह जगत मिथ्या है सच ही।
स्वप्न जैसा सच लगता देखते वक्त ही
वही असत प्रतीत हो जाता चेतने पर ही॥

जैसे स्वप्न में देखे गये दृश्य नींद टूटने पर अदृश्य हो जाते हैं, वैसे ही अविद्या के प्रभाव से संसारके भले-बुरे, सुख-दुःखादि के अनुभव हमें सच लगते हैं। पर अज्ञान दूर होने पर और सच्चिदानंद आत्मा के बोध के फलस्वरूप ये स्वप्नवत् मिथ्या जान पड़ते है।

(७)

तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिकारजतं यथा।
यावन्नज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम् ।।७।।

सीपी के चांदी सा यह जगत सच ही भासता तभी तक।
सर्वाधार अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान मनुज न पा सके जभी तक।।

जगत में एक मात्र सद्-चिद् आनन्द रूप ब्रह्म की ही सत्ता है। यह संसृति उन्हीं की माया से मृगमरीचिका समान मिथ्या होती है। सीपी में चांदी देखना या रज्जु में सर्प का दर्शन अज्ञान रूप माया के भ्रम से होता है। पर सीपी और रज्जु की यथार्थ जानकारी होने पर न सीपी में चांदी दिखती है और न रज्जु में सर्प। ऐसे ही ब्रह्म का ज्ञान न होने पर अनेकों नामों - रूपों वाले संसार को अपने अन्तर में बसे अज्ञान से सत्य मानना होता है, पर ब्रह्म का ज्ञान होने पर सभी ब्रह्म स्वरूप प्रतीत होने लगते हैं।

(८)

सच्चिदात्मन्यनुस्यूते नित्ये विष्णौ प्रकल्पिताः।
व्यक्तयो विविधास्सर्वा हाटके कटकादिवत् ।।८।।

सत चित आनन्द रूप परमात्मा ही
रहता है सब जड़-चेतन रूपों में।
जैसे सोना ही होता है अलंकारों के
सभी विविध रूपों में ।।

नाम रूपात्मक सांसारिक पदार्थ नाशवान होने से अस्थिर होते हैं और विविध रूपों में दिखाई देते हैं पर सभी परमात्मा रूप कारण के कार्य

रूप होते हैं। कार्य और कारण में समानता होने के कारण संसार परमात्मा का ही रूप है। इसकी भिन्न सत्ता नहीं है। परमात्मा (ब्रह्म) सत्, चिद् और आनन्द स्वरूप होते हैं, और सांसारिक पदार्थों में भी सत् (स्थिति), चित् (आभास), आनन्द (आकर्षण) गुणों के साथ नाम और रूप गुण भी होते हैं, जो अविद्या जनित होते हैं। जैसे अनेक आभूषणों में कारण रूप से सोना ही होता है और वे सभी आभूषण सोने के सिवा और अन्य कुछ नहीं होते वैसे ही संसार के सभी पदार्थ ब्रह्म रूप कारण के कार्य होने से ब्रह्म ही होते हैं। इस श्लोक में 'विष्णौ' परब्रह्म के अर्थ में और 'कटकादि' (जेवर) अनित्य सांसारिक पदार्थों के अर्थ में कहे गये हैं । इसी से वेदान्त में **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** कहा गया है।

(६)

यथाकाशोहृषीकेशो नानोपाधिगतो विभुः।
तद्भेदाद्भिन्नवद्भाति तन्नाशे केवलो भवेत्॥६॥

अनन्त आकाश जैसे उपाधियों से बंधा सीमित दिखता है
महान आत्मा भी शरीर-इन्द्रिय के भेदों से परिमित दिखता है।
उपाधि हटने से जैसे आकाश भी अनन्त असीम दिखता है
वैसे ही आत्मज्ञान से परमात्मा-अंश आत्मा अद्वैत दिखता है ॥

यहां 'हृषीकेश' (इन्द्रियों के मालिक) कहने से आत्मा और 'विभु' कहने से परमात्मा को लक्ष्य किया गया है और दोनों की एकरूपता की ओर तात्पर्य किया गया है। आकाश सूक्ष्म और अनन्त होने पर भी अलग-अलग स्थानों में वृक्षों, पर्वतों, घरों, दीवारों आदि के मध्य अलग-अलग प्रकार का दिखाई देता है। ऐसे ही घड़े के आकार से भिन्न-भिन्न घटाकाशों और कमरों में चार दीवारों से घिरे भिन्न-भिन्न मठाकाशों के

रूप में बंटा दिखता हैं, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्मा और आत्मा भी अनेकों भिन्न-भिन्न शरीरों में अलग-अलग जीव रूपों में आभासित होता है, तथा उपाधियों से अलग होने पर एक अद्वैत अनन्त रूप में दिखाई पड़ता है । छान्दोग्य उपनिषद में आत्मा को, -**'आसीदेकमेवाद्वितीयं'** कहा गया है। गीता में परमात्मा को, **'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च'**। (गीता-**१३/१६**) (वह परमात्मा सभी प्राणियों में समान रूप से अविभक्त हो, रहता हुआ पृथक पृथक् जैसा स्थित प्रतीत होता है, और वही जानने योग्य सभी जीवों का भर्ता, संहर्ता और प्रभवकर्ता भी है।) बृहदारण्यकोपनिषद में भी परमात्मा और आत्मा की एकरूपता बतलाने को कहा है - **'एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम । विरजः पर आकाक्षादज आत्मा महान्ध्रुवः॥'** (४/४/२०) (उस परमात्मा को एक रूप जानना चाहिये। वह अप्रमेयनित्य शुद्ध, सूक्ष्म अज और सभी जीवों में आत्मा रूप से स्थित, शाश्वत मानना चाहिये।)

(१०)

नानोपाधिवशादेव जातिवर्णाश्रमादयः।
आत्मन्यारोपितास्तोये रसवर्णादि भेदवत्॥१०॥

शुद्ध जल जैसे स्वाद - हीन रंग - हीन होने पर भी
उसे खारा-मीठा नीला - हरा बतला देते सब ही।
जैसे जाति वर्ण आश्रम उपाधियों से पहचाने जाते सब ही
निर्गुण आत्मा में गुण बतलाये जाते देह-इन्द्रियों सम ही॥

सभी मनुष्य एक समान होने पर भी, उनमें जाति, धर्म, वर्ण व्यवसाय आदि भिन्न-भिन्न कई प्रकार की उपाधियां लगा कर उन्हें वर्गीकृत

किया जाता है। इसी प्रकार शरीर मन इन्द्रियों आदि को भी आत्मा मानकर आत्मा में उनके धर्म आरोपित किये जाते हैं। पर आत्मा निर्विकार और शरीरादि के धर्मों से परे होती हैं। यहां 'उपाधि' से तात्पर्य है ऐसी वस्तु जो वास्तविकता को सीमाबद्ध कर देती है, जिससे अनन्त ससीम ज्ञात हो, और उसके स्वरूप में विपर्यय पैदा हो। सर्वव्यापी आकाश के लिये उपाधि घड़ा, वर्तन या चार-दीवारों से घिरा आंगन होता है। मनुष्यों के लिये ब्राह्मण, क्षत्री आदि नाई, धोबी आदि, ब्रह्मचारी गृहस्थी आदि कहना मनुष्यत्व की उपाधि है। इसी प्रकार इन्द्रियों को आत्मा मानना आत्मा की सूक्ष्मता और सर्वव्यापकत्व को सीमित करने वाली, आत्मा की उपाधि कही जाती है।

(११)

पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसञ्चितम्।
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते ॥११॥

पंचीकृत पांच महाभूतों से पला
पूर्व कृत कर्म संचय से बना।
स्थूल शरीर जीवों का घना
निमित्त सुख-दुःखों का बना॥

इसके विषय में भूमिका में विस्तार से कहा गया है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य इस संसार रूपी कर्मभूमि में जीव रूप से अपने पूर्व जन्मों के कर्मानुसार विभिन्न शरीरों में जन्म पाता है और अपने वासनाजनित सभी कर्मों के फल भोग करते हुवे बार-बार जन्मता-मरता रहता है। अन्तमें आत्मज्ञान पाकर ही वह ब्रह्मलीन होकर अपने अंशी में समा जाता है। श्रुति कहती हैं, - **'कर्मणां बध्यते जन्तु विद्ययामृतमश्नुते'**

(जीव संसृति बन्धन में अपने कर्मों के कारण बंधता है और ज्ञान से अमरत्व रूप मोक्ष पाता है।) **'कर्मों से भोग और भोगों से कर्म'** यही संसार चक्र है जो जीव का बन्धन होता है। वेदान्त दर्शन में मृत्यु को 'महानिद्रा' कहा जाता है। जैसे 'जागृति' के कर्म और विचार हमारे स्वप्नों का निर्माण करते हैं, वैसे ही जीव भी मरणोपरान्त अपने सांसारिक कर्म और वासनाओं का फल पाता है और जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, नये-नये शरीरों से अपनी अनन्त कर्म-यात्रा में आगे बढ़ता रहता है।

कर्म तीन प्रकार के होते है, - **संचित** कर्म पूर्वजन्म कृत वे कर्म हैं जिनका भोग करना बाकी है, **आगामी** कर्म जीव द्वारा किये जाने वाले प्रारब्ध से प्रेरित होते हैं, **प्रारब्ध** कर्म फल प्राप्ति हेतु परिपाक हुवे संचित कर्म होते हैं। जिनका फल वर्तमान में मिलता है। यही **दैव** या **भाग्य** भी कहे जाते हैं। प्रारब्ध कर्म हमारे चरित्र एवं रहन सहन की आदतों के अंग होते है, इनका भोग किसी प्रकार भी नहीं छूटता पर आगामी और संचित कर्मों का परिपाक आत्मज्ञान से रोका जा सकता है। इन्हीं के लिये गीता में, -'**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा**' कहा गया है। आत्मज्ञानी **जीवन्मुक्त** दशा पा जाने से शरीर एवं इन्द्रियों से पराङ्मुख हो जाता है, जिससे उसे प्रारब्ध कर्म भी पीड़ा नहीं देते।

(१२)

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥१२॥

पांच - प्राण दश - इन्द्रिय मन का योग
जो है अपंचीकृत भूतों का संयोग ।
कराने वाला जीव को संसृति - भोग
कहते 'सूक्ष्म' औ 'लिंग' शरीर इसे ही लोग ॥

भूमिका में इसकी विस्तृत व्याख्या है। पञ्चतत्त्वों से बना हमारा स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर जड़ होते हैं। मृत्यु के समय जीव स्थूल शरीर को छोड़ देता है, और सूक्ष्म शरीर को उसमें एकत्रित कर्मों तथा वासनाओं के साथ अपने साथ नये शरीर में ले जाता हैं। गीता में कहा है, **'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति तायुर्गन्धानिवाशयात्।'** (गीता - १५/८) (देहका स्वामी जीवात्मा जिस देह को छोड़ता है, उससे मन समेत इन्द्रियों को लेकर, नये प्राप्त हुवे शरीर में जाता हैं, वैसे ही जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध लेकर जाता है।)

(१३)

अनाद्यविद्यानिर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते ।
उपाधित्रितयादन्यमात्मानमवधारयेत ॥१३॥

अनादि अपरिभाषित अविद्या ही कारण शरीर कहलाती।
तीनों ही उपाधि कहलाते आत्मा इनसे ही ढंक जाती॥

स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर आत्मा को आवृत किये रहते हैं, जिससे आत्म-दर्शन में बाधा पड़ती है। इसी से ये आत्मा की उपाधि कहे जाते हैं। (इस संबंध में भूमिका में कहा गया है।)

(१४)

पञ्चकोशादियोगेन तत्तन्मय इव स्थितः ।
शुद्धात्मा नीलवस्त्रादियोगेन स्फटिको यथा॥१४॥

पांचों कोशों में संयोजित शुद्धात्मा उनके समान ही लगती।
जैसे शुद्ध स्फटिक नीले-पीले वस्त्रों से आवृत वैसी ही लखती॥

स्फटिक मणि को जिस रंग के वस्त्र के साथ रखा जाय वह उसी

रंग की आभा देती है। इसी प्रकार एक के भीतर एक क्रमशः सूक्ष्मतर कोषों का एक-एक कर भेदन करने से यह आत्मा उन्हीं कोषों के समान लगती है, विवेक एवं वैराग्य का आश्रय लेकर सभी कोषों को एक-एक कर भेद कर, आनन्द मय कोष के भीतर सत् चिद् आनन्द रूप जीवात्मा का आभास प्राप्त हो जाता है। इन्द्रियातीत होने से इसे अन्य किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं किया जा सकता है। तैत्तिरीयोपनिषद (ब्रह्मानन्द वल्ली) में कहा है, -**'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान। न विभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य॥'** (परब्रह्म परमात्मा के आनन्दमय रूप के अंश चेतनात्मा तक मन समेत इन्द्रियां नहीं पहुंच पाती और न पाकर लौट जाती है। उनके ज्ञान से सभी भयों से मुक्ति हो जाती है) गीता में भगवान अपनी विभूतियों के विषय में बतलाते हुवे अर्जुन से कहते हैं, **'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'** (हे निद्रा को जीतने वाले अर्जुन ! मैं ही सब प्राणियों के अन्तर में रहने वाली चेतना रूप आत्मा हूं।)(गीता - १०/२०)

(१५)

वपुस्तुषादिभिः कोशैयुक्तं युक्त्यवघाततः
आत्मानमन्तरं शुद्धं विविच्यात्तण्डुलं यथा॥१५॥

जैसे धान कूट छिलका निकाल शुभ्र तण्डुल पा जायें।
वैसे ही साधना कर कोशों के अन्तःस्थित शुद्ध आत्मा पा जायें॥

धान से चावल पाने के लिये जैसे धान को कूटकर और सूप से फटककर भूसे को अलग करने का उद्यम करना होता है, वैसे ही पांच कोषों के भीतर रहने वाली आत्मा का तत्त्व जानने के लिये इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बना कर अष्टांग योग, कुण्डलिनी जागरण, पञ्चकोषभेदन

आदि साधनों द्वारा आत्मानुभूति पाने का प्रयास करना पड़ता है। आत्मा के कोष जड़ होते हैं, आत्मा इनकी द्रष्टा रूप साक्षी होती है। कोषों से परे आत्मा के सच्चिदानन्द रूप में धारणा करने से और कोषों को नकारने से कोषों का भेदन होता है। नियमित ध्यानाभ्यास से और अनुभव करने से कि **'मैं सच्चिदानन्द आत्मा हूं और मैं तीनों अवस्थाओं और मन की सभी वृत्तियों की साक्षी, शुद्ध चैतन्य हूं। मैं शरीर मन प्राण इन्द्रियों से भिन्न हूं और स्वयं-प्रकाश, ज्योतियों की ज्योति, नित्य परमात्मा का अंश हूं।'** - आत्मा से तादात्म्य हो, समाधि अवस्था प्राप्त होती है और आत्मदर्शन होता हैं। यह आप्त लोगों का अनुभव है।

(१६)

सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते ।
बुद्धावेवावभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् ॥१६॥

चेतन - प्रकाश सर्वव्यापी आत्मा का
नहीं सब कोषों में भास पाता
वही विज्ञानमय में बुद्धि बन झलक जाता
जैसे स्वच्छ जल में प्रकाश बिम्ब आता ॥१६॥

विज्ञानमय कोष में पड़ने वाला, आनन्दमय कोष स्थित अविद्या के कारण, यही आत्मा का प्रकाश बिम्ब आत्मा को भोक्ता एवं बद्ध जीव के रूप में आभासित करता है। (भूमिका में इसकी विस्तृत चर्चा है।)

(१७)

देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रकृतिभ्यो विलक्षणम् ।
तद्वृत्तिसाक्षिणं विद्यात्मानं राजवत्सदा ॥१७॥

जड़ देह इन्द्रिय मन बुद्धि औ प्रकृति से भी विलक्षण है आत्मा।
इन सभी की वृत्तियों की साक्षी बन इन पर राज करती है आत्मा।।

आत्मा अनन्त चेतना रूप से शरीर इन्द्रियादि में व्याप्त रहती है। इसी से इन्द्रियां मन और बुद्धि जड़ होने पर भी चेतन प्रतीत होती हैं। आत्मा इनके कार्य-कलापों की साक्षी रूप से निरीक्षण करती रहती है, पर स्वयं उनके कार्यों में सम्मिलित नहीं होती।

(१८)

व्यापृतेष्विन्द्रियेष्वात्मा व्यापारीवाविवेकिनाम्।
दृश्यतेऽभ्रेषु धावत्सुधावन्निव यथा शशी ॥१८॥

जड़ इन्द्रियों में स्थित चेतना लख अज्ञानी सभी
भ्रमित हो मान लेते भोक्ता-कर्ता आत्मा को तभी।
साक्षी मात्र है आत्मा कर्ता तो हैं इन्द्रिय सभी
ज्यों उड़ते बादलों बीच भ्रम से लगे दौड़ता शशी।।

(१९)

आत्मचैतन्यमाश्रित्य देहेन्द्रियमनोधिय : ।
स्वक्रियार्थेषु वर्तन्ते सूर्यालोकं यथा जना:॥१९॥

आत्मा से चेतना पाकर ही क्रियाशील हो पाते देहेन्द्रिय मन।
जैसे सूर्य से ऊर्जित हो प्रकाश पाकर क्रियारत हो जाते जन।।

जैसे प्राणीमात्र सूर्य के प्रकाश की ऊर्जा पाकर अपने-अपने कार्यों में रत होते हैं, पर सूर्य उनकी वृत्तियों के प्रति तटस्थ रहता है, वैसे ही आत्मा की चेतना के आश्रय से शरीर मन बुद्धि अपनी वृत्तियों में लगे

रहते हैं। आत्मा उन वृत्तियों से तटस्थ रह मात्र साक्षी रहती है। जैसे किसी लौह-खंड को चुम्बक के सम्पर्क में लाने पर वह भी चुम्बक के समान काम करता है और अग्नि में तपाया हुवा लौह-पिण्ड लाल होकर अग्नि के समान जलाता और उष्मा देता है, उसी प्रकार आत्मा से चेतना की ऊर्जा पाकर जड़ शरीर मन, बुद्धि और इन्द्रियां काम करती हैं।

(२०)

देहेन्द्रियगुणान्कर्माण्यमले सच्चिदात्मनि ।
अध्यस्यन्त्यविवेकेन गगने नीलतादिवत् ॥२०॥

सत् चित् चेतनात्मा अज्ञान से ही
देह-मन इन्द्रिय सम भासती हैं कर्ता जैसी।
जैसे निर्मल निराकार अनन्त आकाश में भी
भ्रमित हो देखते हैं नतोदरता नीलवर्ण सभी।।

आकाश का न कोई आकार होता है और न कोई रङ्ग, फिर भी इसमें नीलता और नतोदरता जैसे गुण आरोपित किये जाते हैं। (सूर्य की प्रकाश किरणों के वायुमण्डल में आवर्तित होने से आकाश में नीलारङ्ग और इसे खुले छाते की तरह नतोदर समझा जाता है।) इसी प्रकार जन्म, बृद्धि, जरा, मरण जैसे शरीर एवं इन्द्रियों के गुण आत्मा में आरोपित किये जाते हैं। आत्मा विषयक अज्ञान से ही यह आरोपण होता है।

(२१)

अज्ञानान्मानसोपाधेः कर्तृत्वादीनि चात्मनि।
कल्प्यन्तेऽम्बुगते चन्द्रे चलनादि यथाम्भसः॥२१॥

मन - निहित अहंकार अरु कर्तृत्वभावना से ही
मान लेते आत्मा को कर्ता-भोक्ता अज्ञान से ही।
जैसे बहते जल में प्रतिबिम्ब चन्द्र का लखने से ही
जल समान ही गतिमान मानते उसे भी।।

अहंता, ममत्व, राग आदि मन के भाव होते हैं। आत्मा में इनका अभाव होने पर भी ये आत्मा में आरोपित किये जाते हैं। और 'मैं कर्ता हूं', 'मेरा घर', 'मैं सुखी हूं' ,'मुझे यह चाहिये' जैसे भ्रमात्मक वाक्य आत्मा के अज्ञान से ही प्रयोग में आते हैं। बहते जल में चन्द्र का प्रतिबिंब देखने से पानी में गति रूप विकृति के कारण वही विकृति प्रतिबिम्ब में भी दिखाई देती है

(महर्षि कणाद के वैशेशिक दर्शन में आत्मा को कर्मशील माना गया है। और इन्द्रियों में चेतना, सुख दुःखादि वृत्तियां जो प्राण के धर्म होते हैं आत्मा के कहे गये हैं, पर वेदान्त दर्शन में यह मान्य नहीं है । गौतम के न्याय और कणाद के वैशेशिक दर्शन में कई बातें द्वैत मत अथवा नास्तिक वादों के कहे जाते हैं। अद्वैतवादी मनीषी मधुसूदन सरस्वती ने भी श्री मद्भगवद्गीता की टीका में कहा है कि वैशेशिक की तरह नैयायिक तथा मीमांसक आदि कुछ सम्प्रदायों में जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न तथा नित्य और सर्वव्यापी मान्य है। जीवात्मा में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना ये नौ विशेष गुण रहते हैं कहा गया है, जो वेदान्त मत के विपरीत है ।)

(२२)

रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते ।
सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे तस्माद्बुद्धेस्तु नात्मनः।।२२।।

राग–द्वेष - सुख–दुःख - इच्छा - वासना मन की
अस्तित्व में आतीं मन के सचेत रहने तक ही।
सुषुप्ति की प्रगाढ़ निद्रा में ये होती नहीं
तभी ये होती हैं मन की चेतनात्मा की नहीं ।।

मन जागृति और स्वप्न की अवस्थाओं में सचेत रहता है, और सुषुप्ति में अपने कारण रूप अज्ञान में लय हो जाता हैं। तब उसके नहीं रहने पर राग, इच्छा, सुख, दुःखादि किसी भी प्रकार की भावनाऐं अनुभव में नहीं आतीं। (यहां 'बुद्धौ' मन के लिये कहा गया है, बुद्धि के लिये नहीं।)

(२३)

प्रकाशोऽर्कस्य तोयस्य शैत्यमग्नेर्यथोष्णता ।
स्वभाव:सच्चिदानन्दनित्यनिर्मलतात्मन: ॥२३॥

प्रकाश सूर्य का उष्णता अग्नि की
जल की शीतलता गुण हैं जैसे।
सत्‌चिद् आनन्द नित्यता निर्मलता
चेतन आत्मा के गुण हैं वैसे।।

हमें सदा आत्मा की प्रतीति सत् (चेतना रूप से उपस्थिति), चिद् (ज्ञान का आभास और आनन्द (सुखानूभूति) के अनुभवों से सदा होता रहता है, पर इन गुणों के आत्मा में सदा रहने पर भी - अविद्या के विक्षेप से हमें नित्य ये अनुभव नहीं होते। अन्त:करण के शुद्ध होने से सच्चिदानन्द आत्मा का आभास मिलता है। मुण्डकोपनिषद (श्लोक ३/

१/८) में कहा हैं, - **'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा सन्निवेश। प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धेविभवत्येष आत्मा।।'** (शरीर में पांच प्राणों के साथ रहने वाली सूक्ष्म चेतनात्मा का आभास सभी प्राणियों को प्राणों से ओतप्रोत अन्तःकरण के शुद्ध होने पर ही होता है।)

(२४)

आत्मनः सच्चिदंशश्च बुद्धेवृत्तिरिति द्वयम्।
संयोज्य चाविवेकेन जानामीति प्रवर्तते।।२४।।

आत्मा का सत् चिद् जब संयोजित होता है वृत्ति से मन में।
उपजती 'मैं कर्ता हूं' 'मैं ज्ञाता हूं' जैसे, अज्ञान की भावना मन में।।

यहां 'बुद्धे' से मन का तात्पर्य है। चेतन आत्मा और जड़ मन विपरीत प्रकृति वाले होने से इनका संयोजन वास्तविक नहीं होता, अविद्या से ही ऐसा लगता है। आत्मा निर्गुण है पर मन में सत्व, रजस और तमोगुण रहते हैं। किसी पूर्व घटना की स्मृति या किसी दृष्य से मन के तत्सम्बधी तीन गुणों में से एक में उद्दीपन (स्टिम्युलेशन) होने लगता है उसी गुण की वृत्तियों से, मन में तत्सम्बन्धी भावनाऐं उपजती हैं, जो विज्ञानमय कोष में आत्मा के प्रतिबिम्ब (जीव) को प्रभावित कर उसे 'मैं दुःखी हूं', 'मैं सुखी हूं' आदि भावों से सुख-दुःखादि का अनुभव कराती है। चेतनात्मा इन सब वृत्तियों से परे निरपेक्ष रहती है।

(२५)

आत्मनो विक्रिया नास्ति बुद्धेर्बोधो न जात्विति।
जीवः सर्वमलं ज्ञात्वा द्रष्टेति मुह्यति।।२५।।

शुद्ध निर्विकार आत्मामें हो प्रक्रिया कैसे
जड़ मन बुद्धि अहंकार में हो चेतना कैसे।
निर्मल निर्गुण आत्मा अविद्या के प्रभाव ही से
मानती कर्ता ज्ञाता द्रष्टा निज को जीव रूप ही से।।

बुद्धि और मन दोनों प्रकृति की विकृति से उपजे माने गये हैं। बुद्धि अन्त:करण की अनुभवात्मक वृत्ति और मन उसकी संशयात्मक वृत्ति होती है और कभी-कभी दोनों पर्याय रूप से प्रयोग किये जाते है। 'जीव' जो बुद्धि (विज्ञानमय कोष) में चेतना का अक्स होता है अज्ञान के प्रभाव से शरीर और मन में चेतनात्मा के गुण आरोपित कर आत्मा को ज्ञाता कर्ता आदि मान लेता है। पर शुद्ध आत्मा चिद् (ज्ञान) रूप होने से इनसे निर्विकार रहती है।

(२६)

रज्जुसर्पवदात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं वहेत् ।
नाहं जीवः परात्मेति ज्ञातश्चेन्निर्भयो भवेत।।२६।।

मनुज रज्जु को सर्प जान भयभीत होता जैसे
अजर आत्मा को भी जीव रूप से भव-भय होता वैसे।
तब आत्मज्ञान से 'मैं तो ईश्वर अंश' मान निर्भय हो जाता
जैसे रज्जु-ज्ञान से मनुज का सर्प -भय निवृत्त हो जाता।।

जीव स्वयं को स्थान, काल और कारण रूप बन्धनों से बंधा, जन्म-मृत्यु ग्रस्त संसारी मानकर सदा भय पाता है। द्वैत का आभास ही सदा भय उपजाता है। जब परस्पर परायेपन का बोध होता है, तभी भय उत्पन्न होता है। सबको अपना मानने और अद्वैत भावना से भय कभी नहीं

पैदा होता। जब ईश्वर को भी अपने से भिन्न माना जाता है तब 'ईश्वर भय' होता है। 'मैं परमात्मा हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि) के बोध से भय की निवृत्ति हो जाती है। उपनिषद बताते हैं, -**'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'** (मुण्डक-३/२/८)(जो भी उस परमात्मा को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है।) कठोपनिषद् - १/३/१, में भी जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध बताते हुवे कहा गया है, -**'ऋतं पिवन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।।'** (दोनों हृदयाकाश में रहते हुवे पूर्व सुकृतों के सत् फलों के भोग में सम्मिलित होते हैं एक जीव रूप से भोक्ता होकर और दूसरा चेतनात्मा रूप से साक्षी मात्र बन कर, दोनों ही छाया और धूप की तरह साथ रहते हैं यह ज्ञानियों अग्निहोत्री याज्ञिकों का कहना है।) छान्दोग्य उ. - ६/३/२ में भी कहा है कि, -**'सेयं दैवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविष्य नामरूपे व्याकरवाणि इति।।'** (उस देव, -(परमात्मा) ने संकल्प किया कि मैं जीवात्मा समेत तेज, जल, पृथ्वी तत्त्वों के साथ शरीरों के अन्दर प्रवेश कर इनके नाम-रूपों को प्रकट करूं।) मुण्डक और श्वेताश्वतरोपनिषद में भी परमात्मा और जीवात्मा के सम्बन्ध के विषय में कठोपनिषद की भांति कहा हैं, -**'द्वा सुपर्णासयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलंस्वाद्वत्त्यनश्नन्नयो अभिचाकशीति।।'** (दो साथ रहने वाले सखा- जीवात्मा और परमात्मा - पक्षी रूप से शरीर रूप पीपल के वृक्ष के आश्रय में रहते हुवे उसके फलों का भोग करते हैं, एक जीवात्मा-उसके फलों को स्वाद लेकर खाता है और दूसरा-आत्मा रूप परमात्मा-उनका भोग न कर साक्षी बन देखता रहता है।) तथा **'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्तमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।।'** (मु. - २/३/२ श्वे. ४/४/७) (जीवात्मा और परमात्मा एक ही शरीर

रूप वृक्ष पर रहते हैं। जीवात्मा आसक्ति से असमर्थ हो दु:खी रहता है, पर जब वह दूसरे महिमावान और ज्ञानियें द्वारा जाने गये की ओर देखता है वह सर्वथा शोक रहित हो जाता है।) ईशावास्योपनिषद- **५** में कहा है, -'**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यत:।**' (वह परमात्मा सब जीवों के अन्तर में और वही सब ओर बाहर भी रहता है। गीता - **१३/१५** में भी कहा है, -'**वहिरन्तश्च भूतानामन्तरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।**' (वही सब चर-अचर प्राणियों के बाहर और अन्दर स्थित है। और वही सर्व व्यापी हो कर दूर-नजदीक सभी स्थानों में सूक्ष्म रूप से रहने वाला जाना जाता है।)

(२७)

आत्मावभासयत्येको बुद्ध्यादीनीन्द्रियाण्यपि।
दीपो घटादिवात्स्वात्मा जड़ैस्तैर्नावभास्यते।।२७।।

अद्वैत आत्मा से ही जड़ मन-इन्द्रिय-शरीर चेतना पाता है।
जैसे घट भीतर जले दीप से उसके अन्तर में प्रकाश आता है।।

हमारा अन्त:करण और इन्द्रियां आत्मा से ही चेतना प्राप्त करती हैं। ये स्वयं जड़ होते हैं। केनोपनिषद- खण्ड १ के आठ मन्त्रों में गुरु शिष्य को बताते हैं जड़ प्राण, इन्द्रियों और अन्त:करण को चेतन एवं ऊर्जित करने वाली आत्मा रूप परमात्मा ही हैं '**श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचावाचो ह वाच ँ स उ प्राणस्य प्राण: । चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीरा: प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।**' (केन उ. - **१/२**) (जो मन, प्राण और श्रोत्र, चक्षु वाणी आदि ज्ञानेन्द्रियों का कारण प्रेरक और ऊर्जित करने वाला है, उसी आत्मा रूप परमात्मा को जानकर ज्ञानी इस संसार से जाने पर जन्म-मृत्यु से छूट जाते हैं, और अमरत्व प्राप्त करते हैं।) तथा -'**यन्मनसा न मनुते ये नाहुर्मनो मतम्। तदेन ब्रह्म त्वं**

विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥' (केन उ. १/५) (जिसका मन से मनन नहीं हो सकता वरन मन ही जिसका जाना हुवा होता है उसी ब्रह्म को जानना चाहिये। मन और बुद्धि द्वारा सांसारिक पदार्थों की भांति जिसका ज्ञान होता है और लोग जिसकी उपासना करते हैं बह परब्रह्म नहीं हैं।) यहां भी यह स्पष्ट किया गया है कि जैसे घड़े के भीतर प्रज्वलित दीपक घड़े में प्रकाश भर देता है, वैसे ही मन, प्राण, इन्द्रियां भी आत्मा के चैतन्य से उर्जित होकर अपना काम करती हैं।

(२८)

स्वबोधे नान्यबोधेच्छा बोधरूपतयात्मनः।
न दीपस्यान्यदीपेच्छा यथा स्वात्मप्रकाशते॥२८॥

चिद् रूप होती आत्मा स्वयं विज्ञानमय ही
अन्यत - ज्ञान की इसे दरकार होती नहीं।
जैसे प्रज्ज्वलित दीप देता प्रकाश स्वयं ही
उसे अन्य दीप से लेना कुछ भी होता नहीं॥

आत्मा का आभास सभी प्राणियों को 'अहं' रूप से निरन्तर होता रहता है। इसके अस्तित्व को नकारना किसी के लिये भी संभव नहीं होता, क्योंकि बिना 'मैं' रूप बोध के कोई भी विचार मन में उठना संभव नहीं है। यही 'मैं' रूप बोध आत्मा है।

(२९)

निषिध्य निखिलोपाधीन्नेति नेतीति वाक्यतः।
विद्यादैक्यं महावाक्यैजीवात्मपरमात्मनोः॥२९॥

तत्त्व - ज्ञान बाधक अविद्या उपाधि कहलाती
नेति - नेति अन्वय व्यतिरेक करने से ही जाती।
तब 'अहंब्रह्मास्मि' महा वाक्यों से मनन कर सदा ही
आत्मा - परमात्मा की जिज्ञासा शान्त हो जाती।।

ज्ञान प्राप्ति के संदर्भ में तथ्यों का स्थूल और सूक्ष्म विभाग कर छांटने की प्रक्रिया तत्त्वान्वेषण कहलाती है, जिसमें असंभव तत्त्वों को **नेति-नेति** (यह नहीं - यह नहीं) विचार द्वारा छोड़ना **व्यतिरेक** कहलाता है। इसी प्रकार संभव तत्त्वों को मनन हेतु ग्रहण करना **अन्वय** कहलाता है। नेति-नेति भावना के साथ अन्वय करने से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। श्रीमद्भागवत में बतलाया गया है, -**'एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः। अन्वय व्यतिरेकाभ्यां यात्स्यात्सर्वत्र सर्वदा।।'** (आत्म-तत्त्व के ज़िज्ञासुओं को 'अन्वय-व्यतिरेक' पद्धति से यही विचार करना चाहिये कि, कौन तत्त्व सदा सभी में रहता है, - क्योंकि वही तत्त्व परमात्मा कहलाता है।) श्रुतियों में जीव और ब्रह्म में एकत्व बतलाने वाले अनेक महावाक्य हैं, -**'प्रज्ञानं ब्रह्म'** (एतरेय उप. ५/३, ऋग्वेद), **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ. उ. १/४/२०, यजुर्वेद), **'स आत्मा तत्त्वमसि'** (छान्दोग्य उ. ६/१०/३, सामवेद), **'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः'** (बृहदा.उप. २/५/१८, माण्डूक्य उप. २, अथर्ववेद), आदि।

(३०)

अविद्यकं शरीरादि दृश्यं बुद्बुदवत्क्षरम् ।
स्वद्विलक्षणं विद्यादहं ब्रह्मेति निर्मलम्।।३०।।

अविद्या युक्त ये दृश्यविषय शरीरादि सभी
क्षणिक जल-बुद्बुदवत् नाशवान सभी।
अहं ब्रह्मास्मि के शुद्ध विवेक से तभी
आत्मा को परमात्मा रूप जानते सभी।।

अहमस्मि (यह मैं हूं) ज्ञान सभी में सदैव रहता है, पर हम अविद्या के वशीभूत होकर अपने शरीर, इन्द्रियों और मन को **मैं** मानकर इसी विश्वास में स्थित रहते हैं, कि यह संसार अपने समस्त भोग्य विषयों समेत शाश्वत है, पर एक समय आयेगा जब **मैं** इन भोगों को प्राप्त करने के लिये नहीं रहूंगा। पर ऐसा विचार भ्रम है, क्योंकि **मैं** रूप अन्तरात्मा निर्विकार और शाश्वत है। हमारा शरीर मन आदि, तथा नाम-रूप वाले सभी दृश्य पदार्थ जड़ और नाशवान होते हैं। हमारी आत्मा इनकी द्रष्टा मात्र है। दृश्य के बदलने पर साक्षी या द्रष्टा में कोई विकृति अथवा परिवर्तन नहीं होता। तभी **अहमस्मि** के बोध को **अहं ब्रह्मास्मि** रूप से अनुभव कर स्वयं को निर्विकार आत्मा होने की धारणा से अविद्या के विकारों से परे हो कर हम अपने सत् स्वरूप की पहचान कर सकते हैं।

(३१)

देहान्यत्वान्न मे जन्मजराकाश्र्यलयादयः ।
शब्दादिविषयैः सङ्गो निरिन्द्रियतया न च ॥३१॥

नश्वर जड़ देहों से विलक्षण हूं मैं
नहीं जन्म - जरा - मरण ही मुझमें।
क्योंकि इन्द्रियों - रहित भी हूं मैं
कर्तृत्व-भोक्तृत्व गुण नहीं मुझमें ।।

यहां अहं ब्रह्मास्मि के बोध को आत्मा की देहादिकों से विलक्षणता बतलाकर अन्य प्रकार से कहा है।

(३२)

अमनस्त्वान्न मे दुःखरागद्वेषभयादयः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इत्यादि श्रुतिशासनात्॥३२॥

भावुक मन से भिन्न ही हूं आत्मा मैं
दुःख राग द्वेष भयादि लेश नहीं मुझ में।
अप्राण-अमन-अजर-निर्विकार ही हूं मैं
परमात्मा सम ही, यही तत्त्व पाया श्रुति ने॥

मुण्डकोपनिषद् - २/१/१ में परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप बतलाते हुवे कहा है, '**दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥**' (वे ज्योतिर्मय निराकार परमात्मा सर्वव्यापी जन्म-मृत्यु से परे मन-प्राण रहित शुद्ध और अविनाशी हैं और इस प्रकार (मन-इन्द्रिय से रहित होने से वे अविनाशी जीवात्मा से अत्यन्त श्रेष्ठ हैं।)

यहां इसी प्रकार से आत्मा एवं परमात्मा का तादात्म्य बताया है।

(३३)

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥३३॥

उपजें जड़ प्राण इन्द्रिय मन सब निराकार ब्रह्म से ही।
पञ्चतत्त्व सहित आश्रयदायी जगत भी उपजे उन से ही॥

यह श्लोक मुण्डकोपनिषद - २/१/३ में से लिया गया है। निराकार ब्रह्म को वहां स्वयं अकारण होने पर भी अनन्त सामर्थ्ययुक्त कहा गया है। वे कारण रूप से सृष्टि के उत्पन्न करने वाले हैं। उन्हीं सर्व शक्तिमान से सृष्टिकाल में प्राण, मन (अन्तःकरण) और समस्त इन्द्रियां, सृष्टि के उपकरण पांचों महाभूत और प्राणियों को आश्रय देने वाली धरित्री सभी उत्पन्न होते हैं।

जीवात्मा उसी परमात्मा का अंश है।

(३४)

निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो निर्विकल्पो निरञ्जनः।
निर्विकारो निराकारो नित्यमुक्तोऽस्मि निर्मलः॥३४॥

जीवात्मारूप ईश्वर अंश निर्गुण
अकर्ता शाश्वत अद्वितीय शुद्ध हूं मैं।
विकृति रहित निराकार सर्वथामुक्त
और सब प्रकार पवित्र भी हूं मैं ॥३४॥

आत्मा सत्व, रज, तम गुणों से अतीत है, ये तीनों गुण तो प्रकृति के हैं। आत्मा क्रिया रहित भी है। क्रिया या स्पन्दन रूप विकार मन, प्राण, इन्द्रियों आदि के होते हैं। आत्मा, काल, स्थान और कारणों के भी सीमा में बंधी नहीं होती, ये जड़ शरीर के धर्म होते हैं। आत्मा को नित्यमुक्त कहने का तात्पर्य भी यही है कि शरीर के पिंजरे में पांच कोशों के भीतर बन्द होने पर भी आत्मा को कोई बन्धन नहीं हैं, और वह **'यत्र-तत्र-सर्वत्र'** सर्व व्यापी रूप से रहती है। आत्मा के बन्धन अज्ञान से ही आभासित होते हैं।

(३५)

अहमाकाशवत्सर्वं बहिरन्तर्गतोऽच्युतः।
सदा सर्वसमास्सिद्धो निस्सङ्गो निर्मलोऽचलः॥३५॥

आकाश सा सर्वत्र व्याप्त सृष्टि में अन्तर्वहिस्स्थित हूं मैं।
सदा ही एक रूप निस्सङ्ग निर्मल सनातन ही रहूं मैं ॥३५॥

सभी प्राणियों में एक ही प्रकार से आत्मा ईश्वर अंश रूप से स्थित है। पर अज्ञान से ही अद्वैत आत्मा को सब जीवों में भिन्न रूप से देखा जाता है। यह रज्जु में सर्प देखने समान माया जनित भ्रम है। गीता में आत्मा का स्वरूप बतलाते हुवे कहा गया है -'**न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाभविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे। वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।**' (अ. २—२०, २१) (यह आत्मा अजन्मा, अमर, उत्पत्ति, स्थिति, बृद्धि, विकृति, क्षय और लय रूप षड् विकृतियों से परे शाश्वत और पुरातन है, शरीर के नाश होने पर भी अविनाशी रहने वाली है। इसे इस प्रकार से जानने वाले आत्मज्ञानी को मृत्यु दुःख कैसे हो सकता है?) तथा '**अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥**' (अ. २—२४)(विनाश के किन्ही भी साधनों शस्त्रों से काटना, अग्नि से जलाना, जल से भिगाने और डुबाने तथा पवन से सुखाने पर भी यह नष्ट नहीं की जा सकती है। इसी से यह सनातन सर्वव्यापी सदा स्थित रहने वाली और अटल है।) आत्मा का यही स्वरूप यहां कहा गया है।

(३६)

नित्यशुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्परं ब्रह्माहमेव तत् ॥३६॥

नित्य-शुद्ध-विमुक्त-अखण्ड आनन्द रूप ही मैं हूं।
सत्य ज्ञानमय अनन्त परब्रह्म स्वरूप ही मैं हूं॥

तैत्तिरीयोपनिषद - २/१ में कहा गया है, '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥**' (वह ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त विस्तार वाला सर्व व्यापी अनन्त रूपों में परिलक्षित है, वे अपने परम धाम विस्तृत आकाश में स्थित होने के साथ-साथ प्राणियों के अन्तर में आत्मा रूप से रहते हैं। उनको जानने वाला (आत्मज्ञानी) पूर्ण काम हो जाता है। अर्थात् सांसारिकता में रहने पर भी निष्काम हो सदा तुष्ट होकर रहते हुवे उनसे कभी विमुख नहीं होता।) ऐसे आत्म-तुष्ट योगियों के विषय में ईशोपनिषद् में '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।**' (विषयों के प्रति अनासक्त भाव से त्यागपूर्वक (दानाय भोगाय रूप से निरपेक्ष बनकर) उनका प्रारब्ध रूप से भोग करते हुवे, यह सदा मन में स्मरण रखते हुवे कि ये धनादि पदार्थ ईश्वर प्रदत्त हैं, किसी के भी नहीं है और सबके हैं।) के भाव से सांसारिकता में व्यवहार करने का उपदेश निहित है ।

यहां आत्मा और परमात्मा (जीव और ब्रह्म) में तादात्म्य बतलाने को ब्रह्म की चर्चा की गयी है।

(३७)

एवं निरन्तराभ्यस्ता ब्रह्मैवास्मीति वासना।
हरत्यविद्याविक्षेपाद्रोगानिव रसायनम् ॥३७॥

सदा 'मैं ही ब्रह्म हूं' की धारणा कर
निरन्तर चिदात्मा पर विचारणा धर।
विनसें अविद्या-विक्षेप जो छाये अंतर पर
जैसे औषधि हरे सब रोग जो रहते तन पर।।

अहं ब्रह्मास्मि का बोध सांसारिक वासना जाल और मैं-मेरा रूप मोह को दूर कर अविद्या के आवरण को नष्ट कर देता है, जिससे मानसिक शान्ति होकर आत्मज्ञान प्राप्त होता है। तुलसीदास जी रामचरितमानस (उत्तरकाण्ड) में कहते हैं, -**'सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा।। आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा।। प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा'**।। मनोविज्ञान के अनुसार किसी भी विचार को आग्रहपूर्वक बार बार लम्बे समय तक मनन-निदिध्यासन करते रहने से, वह हमारे अवचेतन मन में घर कर लेता है और अन्तःकरण में वैसी ही प्रवृत्ति उत्पन्न कर देता है। **सोहमस्मि, अहं ब्रह्मास्मि** आदि ईश्वरत्व के विचार इसी लिये हमारे अन्तर में ईश्वरत्व जैसी भव्यता और उच्चता पाने की प्रेरणा करने वाले कहे जाते हैं,। यही निरन्तर गायत्री, महामृत्युञ्जयादि मन्त्रों के जप का भी आध्यात्मिक रहस्य है।

(३८)

विविक्तदेश आसीनो विरागो विजितेन्द्रियः।
भावयेदेकमात्मानं तमनन्तमनन्यधीः ॥३८॥

निर्जन वन में यम - नियम से सुचित होकर
शुचि स्थान पर स्थित आसन में स्थित होकर।
एकाग्र मन से आत्मरत हो अन्तर्मुख बनकर

आत्मदर्शन पा जाते जो रहते योग - तत्पर॥

अष्टांग योग के अभ्यास से शनैः शनैः मन की वृत्तियों को शान्त कर ध्यान और धारणा द्वारा समाधिदशा में आत्मरति हो जाती है। **गीता अ. ६ श्लोक १०–१५** में आत्मदर्शन प्राप्त कराने वाले **क्रियायोग** के विषय में बतलाया गया है।

(३९)

आत्मन्येवाखिलं दृश्यं प्रविलाप्य धिया सुधीः।
भावयेदेकमात्मानं निर्मलाकाशवत्सदा॥३९॥

दृश्य जगत को विवेक बुद्धि से तब
अन्तर में विलीन कर ध्यानमग्न रहें जब।
ज्योतिर्मय निर्मल हृदयाकाश में तब
सर्वव्यापी पवित्र आत्मा पायें आकाशवत्॥

इन्द्रियों से अनुभूत संसार, रज्जु के सर्प की तरह अविद्या जनित मोह के कारण मिथ्या है और अविद्या रूप माया द्वारा हमारे अन्तःकरण में प्रक्षिप्त है। इस प्रकार के विवेक से विचार करने और अन्तश्चेतना में आभासित होने वाले दृश्य जगत को अन्तर में ही लय कर, सर्वत्र अनन्त आत्मा की भावना करने से आत्मा शुद्ध शरदाकाश की तरह छा जाती है।

(४०)

रूपवर्णादिकं सर्वं विहाय परमार्थवित्।
परिपूर्णचिदानन्दस्वरूपेणावतिष्ठते॥४०॥

नश्वर नाम-रूप-वर्णमय संसृति के वस्तु जड़
विवेकी तत्त्वज्ञानविद मानते अनृत सब।

स्थित रहते वे पूर्ण सच्चिदानन्द में ही तब
और अज-अमर - निर्गुण ब्रह्म में होते लय।।

अज्ञान से ग्रस्त मनुष्य नाम-रूपों वाले सांसारिक पदार्थों को ही सत्य मानकर सांसारिक विषयों में उलझा रहता है और आत्मज्ञान से वंचित रहता है। पर तत्त्व ज्ञानी सभी लौकिक संग्रहों को मिथ्या जान इनमें लिप्त नहीं होता । वही आत्म ज्ञान द्वारा ब्रह्म-सायुज्य योग्य बन जाता है। गीता अ. ६/ श्लो. १९ में ऐसे ही आत्मनिष्ठ योगी के विषय में कहा गया है, -'**यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। योगिनो यत चित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।**' (जैसे वायु रहित स्थान में दीपक की लौ स्थिर रहती है उसी प्रकार की दशा योग साधना में लगे हुवे योगी के मन की कही गयी है ।)

(४१)

ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः परे चात्मनि विद्यते ।
चिदानन्दैकरूपत्वाद्दीप्यते स्वयमेव तत्।।४१।।

आत्मा स्वयं बोधरूप ही ज्ञानी
ज्ञान ज्ञेय के भेद से वह है परे।
अद्वैत सच्चिदानन्द रूप से ही
प्रकाशित वह स्वयं को करे।।४१।।

पातञ्जल योगदर्शन में बताया गया है कि यम-नियमादि साधनों से शुद्ध किये गये चित्त में निरन्तर इष्ट-ध्यान करते हुवे जब उसकी अन्य वृत्तियां लय होकर चित्त ध्येयाकार बन जाता है तब **सम्प्रज्ञात समाधि** की दशा होती है। यही **सवितर्क** और **सविचार** दशा भी कही जाती है। (क्योंकि उस काल में शब्द, अर्थ, ज्ञानादि रूप से मन में विचार स्थित

रहते हैं।) परन्तु जब मन की विचार- हीन अवस्था हो जाती है तब अधिक गहन **निर्वितर्क** या **निर्विचार** समाधि होती है, और यही **निर्विकल्प** समाधि भी कही जाती है। सम्प्रज्ञात समाधि में बीज रूप से, सूक्ष्म रूप में ध्येय रहता है, इसी से यह **सबीज़** कहलाती है। पर उससे गहन निर्विकल्प समाधि में योगी के चित्त में आत्मा का अनिर्वचनीय आनन्द रूप से **आत्मप्रसाद** कहलाने वाला अनुभव रहता है। (यही अंग्रेजी में 'इक्सटैसी' नाम से जाना जाता है।) इसी काल में बुद्धि तत्त्वज्ञान ग्रहण करने योग्य होकर **ऋतम्भरा** बन जाती है। तब अन्तःकरण शुद्ध और संशयरहित होने से, योगी के अन्तःकरण में रहने वाले कर्माशय रूप पूर्व-संस्कार 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं। यही मोक्ष की पूर्व दशा होती है। यह अवस्था **निर्वीज समाधि** भी कही जाती हैं। (योग दर्शन - १/१७,४१,४५–५१ सूत्र)।

सविकल्प समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय स्थित रहने से यह निम्न अवस्था वाली समाधि होती है, पर इससे उच्च **निर्विकल्प** समाधि में आत्मानन्द के सिवाय अन्य कुछ भी चित्त में न रहते से जीव जीवन्मुक्त दशा प्राप्त कर, ब्रह्मलीन हो जाता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों एकाकार हो जाते हैं।

(४२)

एवमात्मारणौ ध्यानमथने सततं कृते ।
उदितावगतिर्ज्वाला सर्वाज्ञानेन्धनं दहेत् ॥४२॥

अरणि द्वय के मन्थन से अग्नि प्रकट होती जैसे
भस्मसात् सब ईंधन को कर देती जैसे।

आत्मरत हो सतत ध्यान करने से भी वैसे
अज्ञान - ईंधन को ज्ञानाग्नि जला देती वैसे।।

यहां **अरणौ ध्यानमथने** कहने का तात्पर्य है, 'दीर्घकालीन गहनध्यान'। अग्नि को प्रज्वलित् करने के लिये दीर्घ काल तक अरणियों का मन्थन करना पड़ता है। इसी प्रकार निरन्तर ध्यान ज्ञान-ज्योति को प्रज्वलित करने के लिये आवश्यक है। कैवल्योपनिषद् में ब्रह्मा महर्षिआश्वलायन को बतलाते हैं -'अन्त:करण को अधोऽरणि और प्रणव को उत्तर अरणि बना कर मन्थन करने से (मनन-चिन्तन और निदिध्यासन करने से) ज्ञानाग्नि सुलग जाती है जिससे संसृति बन्धन नष्ट हो जाते हैं। गीता - ४/१८ में बताया गया हैं। **'यस्य सर्वे समारम्भा: कामसंकल्पवर्जिता:। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहु: पण्डितं बुधा:।'** (जिनके सभी कर्म कामना और संकल्प रहित होते हैं, उन ज्ञान रूप अग्नि द्वारा भस्म हुवे कर्मों वाले पुरुष को ज्ञानी भी पंडित मानते हैं।) आगे श्लोक ३७ में भगवान अर्जुन से पुन: कहते हैं, -**'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।'** (हे अर्जुन। जैसे प्रज्वलित अग्नि इंधन को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि सभी, कर्मों को भस्मसात् कर देती है।) श्वेताश्वतर उपनिषद - १/१४ में भी प्रकारान्तर से यही बात कही गयी है, **'स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् दैवं पश्येनिगूढ़वत्।।'** (अपने शरीर को मन इन्द्रियों समेत निश्चल अधोअरणिवत् करके ॐकार को उत्तर अरणि बना निरन्तर निर्मथन् रूप ध्यान करने से अन्तर में छिपे आत्मा रूप परमात्मा को साक्षात् देखे।)

(४३)

अरुणेनेव बोधेन पूर्वं सन्तमसे हृते।
तत आविर्भवेदात्मा स्वयमेवांशुमानिव।।४३।।

सूर्योदय होने से जैसे रात्रि का सारा तम विनष्ट हो जाता।

आत्मोदय से वैसे ही अज्ञान नष्ट हो आत्मज्ञान छा जाता।।

प्रकारान्तर से यही बात गीता अ. ५/१६, में कही गई है, **'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।'** (जिसका अन्तर का अज्ञान ज्ञान के स्फुरण द्वारा नष्ट हुवा है उनका वह ज्ञान सूर्य समान ज्योतिष्मान परमात्मा का आभास कराता है।) यहां आत्मा के स्थान में ज्ञान प्रयोग किया है क्योंकि आत्मा ही ज्ञान रूप है, जिसे आध्यात्मिक, साधनों से अज्ञान को नष्ट कर ज्ञान रूप से प्राप्त किया जा सकता है।

(४४)

आत्मा तु सततं प्राप्तोऽप्यप्राप्तवदविद्या।
तन्नाशे प्राप्तवद्भाति स्वकण्ठाभरणं यथा।।४४।।

नित्यात्मा के सतत अनुभव को
अविद्या - उपाधि से बाध होता।
तभी अज्ञान के नाश से ही आत्मा
का कण्ठ-माल सम भास होता।।

कभी-कभी गले में सदा पहिने हुवे जंजीर, यज्ञोपवीत या हाथ में पहिनी घड़ी, अंगूठी अथवा आंखों के चश्मे का आभास नहीं होता क्योंकि हमारी त्वचा को उसकी आदत हो जाती है। इसी प्रकार सदा हमारे अन्तर में बसी आत्मा भी अविद्या के कारण आभासित नहीं होती, और अविद्या का आवरण छूटने पर उसका बोध अनायास हो जाता है। चित्त की शुद्धि अविद्या को मिटाने का साधन है, जिसे शास्त्रों ने जप-तप, पूजा-ध्यान, ब्रत-नेम इत्यादि साधनों से मिलना बताया है।

(४५)

स्थाणौ पुरुषवद्भ्रान्त्या कृता ब्रह्मणि जीवता।
जीवस्य तात्विके रूपे तस्मिन्दृष्टे निवर्तते॥४५॥

अन्धकार में पेड़ का ठूंठ खड़े पुरुष सा लगता जैसे
ब्रह्म रूप चेतनात्मा भी कर्ता-भोक्ता जीव लगता वैसे।
आत्मा-जीव के स्वरूप का तत्त्व-ज्ञान नर पा सकता जैसे
नष्ट होता अज्ञान-जनित जीवत्व आत्मा में लखना वैसे॥

आनन्दमय कोष में अविद्या के रहने से उसके अन्तस्थ चेतनात्मा का विज्ञानमय कोष में प्रक्षिप्त विम्ब कर्ता-भोक्ता जीव के रूप में आभासित होता है और मन में उसके जीव रूप की अनूभूति होती रहती है। जैसे अन्धकार में अधकटे वृक्ष का ठूंठ, एक मनुष्य के आकार में दिखाई पड़ता है और पास में जाने पर वह ठूंठ ही दिखने लगता है। वैसे ही **तत्त्वमसि** के बोध से हम व्यष्टि रूप से हमारे अन्तर में रहने वाली जीवात्मा को, समष्टि रूप विश्वात्मा (परब्रह्म) रूप जान कर संकीर्णता के आभास रूप अविद्या के द्वारा उपजाए भेद-भ्रम को दूर कर सकते हैं। दूसरे अर्थ में **यही आत्म ज्ञान है।**

(४६)

तत्त्वस्वरूपानुभवादुत्पन्नं ज्ञानमञ्जसा।
अहं ममेति चाज्ञानं बाधते दिग्भ्रमादिवत्॥४६॥

आत्मा के स्वरूप का तत्त्व - ज्ञान पा जाना
बुद्धि में शुद्ध विवेक का उदय हो पाना।
अंतर में 'अहं' 'मम' की भावना से बाधा पाता
जो दिशा-भ्रम सा अविद्या से ही अंतर में आता॥

आत्मा सत् चित् आनन्द और पूर्ण रूप है, इसीलिये यह ज्ञान रूप और अविद्या से परे भी है। **अहं** और **मम** जैसे संकीर्ण भाव संसारी जीव के अविद्या-जनित मोह के भाव हैं। शुद्ध बुद्ध आत्मा के अज्ञान-रंजित होने से बुद्धि में आत्मा के प्रति कर्ता भोक्ता रूप जीव-भाव होता है। यह विपर्यय जीव के पूर्व जन्मों के प्रारब्ध कर्मों से संबंधित रहता है, जिनके कारण उसे कर्म-फल-भोग हेतु शरीर प्राप्त होता है। ये प्रारब्ध कर्म आत्मबोध में बाधा डालते हैं और जीव को सांसारिक द्वन्दों में फंसाकर सुख-दुःख का अनुभव कराते हैं, जो उसके प्रारब्ध कर्मों के परिपाक ही होते हैं। पर जैसे रात्रि में रास्ता भूलकर भटका हुवा राही सूर्योदय होने पर अपना मार्ग और गन्तव्य की दिशा जान लेता है, वैसे ही आत्मा का यथार्थ ज्ञान उदय होने पर वह अपने सच्चिदानन्द स्वरूप और पूर्णता का आभास पा जाता है।

(४७)

सम्यक् विज्ञानवान् योगी स्वात्मन्येवाखिलं जगत्।
एकं च सर्वमात्मानमीक्षते ज्ञानचक्षुसा ॥४७॥

पूर्ण विवेक प्राप्त योगी को आत्मा में
निहित यह जग लगता।
ज्ञान चक्षु खुलने से वह सब जीवों को
निज आत्मा सम लखता

आत्म-ज्ञान पाये योगी **मैं-मेरा** जैसी मोह भावना से परे होते हैं, और राग-द्वेष, सुख-दुःखादि द्वन्दों से छूटकर सभी प्राणियों को अपने समान मानते हैं जिससे वे किसी के लिये भी दुःख का कारण नहीं बनते। ऐसे ही समत्व बुद्धि सम्पन्न योगियों के विषय में गीता मे कहा है, -

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। इक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।' (गीता - **६/२८**) (समत्वभाव से सबको देखने वाला योगी अपनी आत्मा को सर्व व्यापी देखता है और सभी प्राणियों को उसमें स्थित देखता है।) ऐसे समत्व दृष्टिकोण वाले योगी राग-द्वेष, सुख-दुःख, लोभ-मोह, काम-क्रोध, आदि द्वन्दों से छूट संसृति बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, और तभी गीता वचनानुसार -**'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणस्यामि सच मे न प्रणस्यति।'** (गीता - **६/३०**) (जो सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मा रूप परमात्मा को देखता है, और सब प्राणियों को एक ही परमात्मा में स्थित देखता है, वह परमात्मा से और परमात्मा उससे कभी विमुख नहीं रहते), - जैसी स्थिति उस योगी को प्राप्त हो जाती है।

(४८)

आत्मैवेदं जगत्सर्वमात्मनोऽन्यन्न विद्यते ।
मृदो यद्वद्धटादीनि स्वात्मानं सर्वमीक्षते ॥४८॥

इस समस्त सृष्टि को आत्मा का ही स्वरूप मानो
आत्मा छोड़ इसमें नहीं अन्य कुछ भी यह सत्य जानो।
जैसे घटादि कार्यों में मिट्टी को ही कारण मानो
वैसे ही आत्मा को सब जीवों का कारण जानो।।

जैसे घड़े दिये आदि कार्यों में मिट्टी उपादान कारण होती है, वैसे ही परमात्मा का अंश होने से जीवों की चेतनात्मा सृष्टि का उपादान कारण होती है। तभी सृष्टि में चेतन प्राणियों का महत्व होने से **आत्मनोऽन्यन्न विद्यते** कहा गया है। कारण वास्तव में कार्य से भिन्न नहीं होता, इन दोनों में नाम-रूप का ही अन्तर होता है। मिट्टी और घड़ा, सोना और कंगन,

वस्त्र और उत्तरीय आदि एक ही हैं। इनमें केवल नाम और रूप का ही अन्तर अविद्या के कारण परिलक्षित होता है।

(४६)

जीवन्मुक्तस्तु तद्विद्वान्पूर्वोपाधिगुणान्स्त्यजेत।
सच्चिदानन्दरूपत्वात् भवेद्भ्रमरकीटवत् ॥४६॥

अविद्या के चंगुल से मुक्त योगी जीवन्मुक्त बन
आत्मज्ञान पा उपाधि-गुणों की बाधा को तज ।
निज सच्चिदानन्द आत्म रूप ही सर्वत्र लख कर
ब्रह्म - रूप ही हो जाता भ्रमरकीट-के सम ॥

आध्यात्म के क्षेत्र में ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति और भक्ति द्वारा परमपद पाने के दृष्टान्तों में अधिकतर **भृङ्गी-कीट** की उपमा बताई जाती है। **भृङ्गी-कीट** भ्रमर को देख कर डर जाता है और तब उसी का ध्यान करते हुवे वह स्वयं भ्रमर बन जाता है। इसमें कीट-जगत के भ्रमर एवं तितलियों आदि के जनन-चक्र संबंधी वास्तविकता छिपी है। अण्डे से भ्रमर बनने की प्रक्रिया में सर्व प्रथम अंडे से इल्ली (लारवा) बनता है, फिर कुछ समय बाद इल्ली एक शंकु के आकार का कीट शंखी (प्यूपा) बनता है और अन्त में कुछ समय बाद शंखी से पूर्ण विकसित भ्रमर अथवा तितली बनती है। इल्ली और शंखी एक कीड़े के आकार में होते हैं, जिन्हें 'भृङ्गी-कीट' कहा गया है। साथ ही ऐसी कल्पना की गय़ी है कि 'भृङ्गी-कीट' 'भ्रमर' को देख कर डर जाता है और उसी का ध्यान करते हुवे स्वयं भ्रमर हो जाता हैं, जब कि यह भ्रमर का नैसर्गिक जनन-चक्र है, चमत्कारिक लगने के कारण जिसे आध्यात्म में **जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई** के दृष्टान्त रूप से कहा जाता हैं।

(५०)

तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा रागद्वेषादिराक्षसान् ।
योगी शान्तिसमायुक्त आत्मारामोविराजते ॥५०॥

ऐसा योगी कर जाता है मोह सागर को पार
अन्तर के राग - द्वेष सम राक्षसों को मार।
निज चित्त में बसा लेता शान्ति अभिराम
परमानन्द पाता आत्मानन्द में कर विश्राम॥

शङ्कराचार्य जी ने इस श्लोक में रामायण के रूपक द्वारा योगी की आत्मरति की दशा प्राप्त करने का बोध कराया है। यहां **मोहार्णव** (संसार रूप अज्ञान सागर), लंका के सागर के लिये प्रयुक्त है, **रागद्वेषादिराक्षस** से कुम्भकर्ण, मेघनाद रावण आदि राक्षसों का तात्पर्य है, **शान्ति** सीता का पर्याय है और **आत्माराम** (आत्मरत योगी) श्रीराम के लिये प्रयुक्त है।

(५१)

बाह्यनित्यसुखासक्तिं हित्वात्मसुखनिवृत: ।
घटस्थदीपवत्स्वस्थ: स्वान्तरेव प्रकाशते ॥५१॥

निवृत्त हो सब बाह्य-विषय-सुखों की तृष्णा से
योगी पाकर सतत आनन्द आत्मा की निष्ठा से
निज अन्तर में प्रस्फुरित होती बोध की ऊर्जा से
घटभीतर स्थित दीप-प्रकाशित अन्तर सा मुदितरहे॥

आत्मज्ञानी योगी के लक्षणों को बतलाते हैं, कि वह सभी सांसारिक विषयों के सुखों से विमुख हो जाता है, क्योंकि उसे आत्माराम में स्थित होने पर क्षणिक विषय सुखों के बजाय शाश्वत सुख की प्राप्ति हो जाती है। जैसे घड़े के भीतर जली ज्योति से घड़े का अन्तर प्रकाशित हो जाता है वैसे ही आत्मज्ञान के प्रकाश से उसका अन्तर प्रकाशित होकर उसका सारा अज्ञान नष्ट हो जाता है। गीता के अध्याय **२/५५–५८** श्लोकों में ऐसे ही योगी को, उनकी बुद्धि आत्मा में रहने से, **स्थितप्रज्ञ** कहा गया है। **'प्रजहाति सदा कामान्सर्वान्यार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते। दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु निगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीमुनिरुच्यते।।'** (गीता - **२/५५–५६**) (जो योगी मन की समस्त वासनाओं को त्याग कर अपनी आत्मा में स्थित रह सन्तुष्ट रहता है वह 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है। ऐसे दुःख में विचलित न होने और सुख में अधिक सुख पाने की इच्छा न रखने वाला ज्ञानी राग-द्वेष, भय-क्रोध, लोभ-मोह जैसे द्वन्द्वों से छूटकर समत्व बुद्धि वाला हो जाता है।) शङ्कराचार्य जी ने विवेक चूडामणि में विस्तार से ऐसे जीवन्मुक्त योगी के लक्षण कहे हैं। **'स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते । ब्रह्मण्येव विलीनात्मा निर्विकारो विनिष्क्रियः ।। देहेन्द्रियादौ कर्तव्ये ममाहंमानवर्जितः । औदासीन्येन यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्त लक्षणः ।।'** (वि.चू. **४२७,४३७**) (जो योगी सदा ब्रह्मरत होता कर्म वासनाओं को त्याग निर्विकार रहता हुवा आत्मानन्द पाता है वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। वह अपने शरीर और इन्द्रियों से अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुवे 'मेरा - मैं' की मोह भावना नहीं रखता और उदासीन के समान व्यवहार करता है ऐसा ही 'जीवन्मुक्त' लक्षणों वाला कहलाता है।

(५२)

उपाधिस्थोऽपि तद्धर्मैरलिप्तो व्योमवत्मुनिः।
सर्वविन्मूढवत्तिष्ठेदसक्तो वायुवच्चरेत्॥५२॥

स्थित रहने पर भी उपाधियों के बीच मर्मों में
योगी रहते अलिप्त आकाश सम उनके धर्मों से
मूढ़ - सम उदासीन निरपेक्ष रहते जग के कर्मोंसे
वासना-रहित हो वायु समान स्वतंत्र विचरते वे।।

जीवन्मुक्त योगी शरीरवान् होने पर भी अपने शरीर मन इन्द्रियों की उपाधियों के साथ पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद तो नहीं कर सकते पर वे, उनकी वृत्तियों से निरपेक्ष रहते और अपनी अन्तरात्मा के अन्तर्बोध के अनुसार चलते हुवे साक्षी रूप से मन, इन्द्रियों के व्यवहार का निरीक्षण करते हैं उनमें रमते नहीं। उनमें, अन्तःकरण शुद्ध होनेसे सुख-दुःख शोक-मोह, राग-द्वेष, नहीं रहते, इसी से उदासीन बने हुवे मूढ़ की तरह स्तुति-निन्दा प्रशंसा-भर्त्सना से प्रभावित नहीं होते और **आत्मन्येवात्मनातुष्ट** (अपने में मगन रहते हुवे) संसार में रहते हैं।)

(५३)

उपाधिविलयाद्विष्णौ निर्विशेष विशेन्मुनिः।
जले जलं वियद्व्योम्नि तेजस्तेजसि वा यथा॥५३॥

अन्त में शरीरादि उपाधि जब शान्त हो जाते
आत्मज्ञानी योगी परमात्मा में लय हो जाते।
देह के जल तेज आकाशादि तत्त्व विलय हो जाते
और पञ्चतत्त्वों के समष्टि-श्रोत में लय हो जाते।।

यहां **विष्णौ** शब्द परमात्मा वाचक है। ईशावास्योपनिषद (मन्त्र - १५) में योगी की मुक्ति का वर्णन कर कहा गया है, '**वायुरनिलमृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्। ॐ क्रतो स्मर क्लिवे स्मर कृतं स्मर।**' शरीर के शान्त होने पर योगी का स्थूल शरीर तो भस्मीभूत होकर पञ्च तत्वों में मिल जाता हैं और जीवात्मा परमात्मा से अपने किये सुकर्मों की याद दिलाते हुवे संसृति बन्धन से मुक्ति की प्रार्थना करता है। घड़े के फूटने पर **घटाकाश** सर्व व्यापी आकाश में विलय हो जाता है। प्रज्वलित ज्योति जब तेल समाप्त होने पर बुझती है तब उसकी ज्वाला लुप्त होकर पार्थिव तेज में समाहित हो जाती है। इसी प्रकार योगी के स्थूल शरीर के पञ्चमहाभूत अपने अपने श्रोतों में मिल जाते हैं । गीता - १५/८ में कहा गया है, '**शरीरंयदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।**' (जीवात्मा जिस शरीर को छोड़ता है उसमें से मन सहित इन्द्रियों को लेकर, प्राप्त किये नये शरीर में जाता है। जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को ले जाता है।) सूक्ष्म-शरीर जीवात्मा के साथ जाता है। प्रश्नोपनिषद ३/१० में कहा है, -'**यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति।।**' (जीव जैसे संस्कार वाला होता है, वैसे ही संकल्पित योनियों में प्राण स्थित होते हैं और वही उदान वायु से संयुक्त हो सूक्ष्म शरीर युक्त जीव को यथायोग्य लोकों अथवा शरीरों में ले जाता है।)

शरीर के संदर्भ में दो प्रकार की मुक्ति कही जाती है। **जीवन्मुक्ति** अर्थात् सशरीर मुक्ति और **विदेह मुक्ति** अर्थात् शरीर त्याग करने पर होने वाली मुक्ति। कुछ लोग (तथा अद्वैत मत में भी) जीवन्मुक्ति को ही परममोक्ष मानते हैं, क्योंकि आत्मज्ञान ही मुक्ति का साधन है, इसीलिये शास्त्र कहते हैं, '**सा विद्या या विमुक्तये**' (ज्ञान वही है जिससे मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो) जीवन्मुक्त में जीव मुक्त होने पर सप्राण रहते हुवे अपने प्रारब्धानुसार शरीरवान रहता है, पर वह ऐसी दशा में अपने कर्मों से

मलिनता नहीं पाता और न आत्मज्ञान से विरत होता है। ऐसा जीवन्मुक्त संसार में जड़ता, तामस और असत् परिस्थितियों में रहते हुवे उनसे किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होता सन्मार्ग में चलता रहता है। पर कुछ लोग मानते हैं कि जीवन्मुक्त शरीरयुक्त रहने के कारण ही, अपने अहंकारादि देह-धर्मों के कारण कुछ अंशों में अविद्या से ग्रस्त रहते हैं, अत: ब्रह्म-लीन मुक्ति की दशा संभव नहीं है। छान्दोग्य उ. (६/१४/२) में कहा है, '..... **तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्य इति**'। (तत्त्व ज्ञान पाने तक ही उसकी मुक्ति होकर ब्रह्म में लय नहीं होता।) मुण्डकोपनिषद - ३/२/८ में कहा है, -'**यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।**' (जैसे नदियां प्रवाहित होती हुवी समुद्र में मिल उसमें एकाकार हो अपने नाम-रूप को छोड़ देती हैं, वैसे ही, तत्त्वज्ञानी नाम-रूप से मुक्त होकर ज्योतिर्मय परमात्मा में लय हो जाता है।) यहां '**नाम-रूप लय**' होना कहने से विदेह मुक्ति का ही तात्पर्य है। गीता के श्लोक १५/५ के कथन, -'**निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥**' (जिनका मोह और अभिमान नष्ट हो, जिसने वासना को जीत लिया हो, सदा जो आत्मरत रहते हों जिनकी कामनाऐं क्षीण हो गयी हों तथा सुख दु:खादि द्वन्दों से जो अप्रभावित रहते हों - वे ज्ञानी परम पद मोक्ष प्राप्त करते हैं।),-से 'जीवन्मुक्ति' तथा 'विदेहमुक्ति' दोनों का तात्पर्य लिया जा सकता है।

(५४)

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम्।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत॥५४॥

जिसको पा जाने पर अन्य कुछ की न चाह रहे

जिस सुख को पाने पर अन्य सुख का न राह तके।
जिस ज्ञान को पाने पर अन्य कुछ भी न अज्ञात रहे
उसी ब्रह्म के तत्त्व - ज्ञान का ही सदा भान रहे।।

'ब्रह्म की प्राप्ति से ही सब प्राप्त है'- यही इस श्लोक का तात्पर्य है। इसी का सुख 'सर्व सुख' है और इसी का ज्ञान 'सर्वज्ञान'। मुण्डकोपनिषद् **३/२/८** में कहा हैं, -**'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।'**(जो उस परम ब्रह्म को जान लेता है ब्रह्म रूप हो जाता है।) जनक-याज्ञवल्क्य संवाद में बृहदारण्यक उपनिषद् - **४/३/३२** में आत्मा के स्वरूप के विषय में कह गया है, -**'... एषास्य परमागतिः एषास्य परमासंपत् एषोस्य परमो लोकः एषोस्य परम आनन्दः एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।'** (यही परम उपलब्धि, परम सम्पत्ति, परम लोक और परम आनन्द है। इसी आनन्द के एक कण समान मात्रा के इन्द्रिय सुख रूप विषय भोग से ब्रह्मज्ञानियों से अन्य सामान्य लोग सांसारिक सुखों में आश्रय ले जीवन में भोग करते हैं।) इसी ब्रह्मानन्द के विषय में छान्दोग्यउपनिषद् - **७/२३/१** में कहा गया है, -**'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूतात्वेव विजिज्ञासितव्य इति।'** (अनन्त ही में सुख हैं, सीमित अल्प में नहीं। अनन्त के सुख की प्राप्ति के लिये जिज्ञासापूर्वक साधना करनी होती है।) सांसारिक विषयों का सुख अल्प होने से अधिक प्राप्ति की तृष्णा का कारण होता है और तृष्णा दुःख की जननी होने से सांसारिक विषय मूलतः दुःख ही हैं।

(५५)

यद्दृष्टवा नापरं दृष्यं यद्भूत्वा न पुनर्भवः।
यज्ज्ञात्वा नापरं ज्ञेयं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत॥५५॥

जिसके दर्शन से फिर कुछ भी न अदृश्य रहे
जिसको पाने से फिर कभी न पुनर्जन्म रहे।
जिसके ज्ञान से फिर कुछ भी न ज्ञेय रहे
वही मुक्ति रूप ब्रह्म ही सदा ध्येय रहे।।

पूर्व श्लोक की भांति इस श्लोक में ब्रह्म की महत्ता कही गयी है। इसी प्रकार से छान्दोग्य उप. में. (६/१/३) श्वेतकेतु अपने पिता आरुणि से जिज्ञासा करता है, - उस तत्त्व का दृष्टान्त कैसे मिलता है, - **'येनाश्रुतंश्रुतं भवत्यमतंमतमविज्ञातं विज्ञातमिति : ....'**। (जिससे बिना सुना हुवा भी सुने हुवे जैसा हो जाता है, मन के विचारों में न आया हुवा भी विचारित सा हो जाता है, बुद्धि द्वारा अज्ञात भी भली प्रकार जाना जैसा हो जाता है।) तब उत्तर में आरुणि उसे बताते हैं कि जैसे मिट्टी के लोंदे से मिट्टी के बने घड़े आदि वस्तुओं का ज्ञान होता है क्योंकि वे मिट्टी के नाम-धेय विकार होते हैं। सुवर्ण को जानने से सभी स्वर्णाभूषणों का ज्ञान होता है क्योंकि वे सोने के ही नामधेय रूप होते हैं और जैसे नाखून काटने वाली नहन्नी एवं अन्य लोहे की वस्तुऐं वास्तव में लोहे के परिवर्तित नामधेय रूप ही हैं। इस प्रकार आरुणि ने सृष्टि में सर्व प्रथम एक अलक्ष्य ब्रह्म का अस्तित्व बता श्वेतकेतु को उसी के विवर्त रूप से सृष्टि की उत्पत्ति बताई। गीता **१५/६** में -**'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'**। (जहां पहुंचने पर फिर संसार में पुनर्जन्म नहीं होता वही मेरा स्थान है।) कहकर ब्रह्मज्ञानियों के मोक्ष को स्पष्ट करती है। यही गीता - **८/२१** में कहा गया है- **'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्। यं प्राप्य न निर्वतन्ते तद्धाम परमं मम''**। (जिस दशा को अलक्ष्य और अमरत्व तथा परम् पद कहा जाता है, उस मोक्ष रूप मेरे परम धाम को पाकर मनुष्य संसार में नहीं आता।)

(५६)

तिर्यगूर्ध्वमधः पूर्णं सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
अनन्तं नित्यमेकं यत्तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५६॥

तिरछे ऊपर नीचे चहुं ओर रहता सर्वत्र ही जो
सब प्रकार पूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप अद्वैत ही जो।
सनातन एक ही सबके अन्तःस्थित अनन्त रूप भी जो
उसी ब्रह्म का विचार कर चिन्तन करें आत्मा रूप ही जो॥

पर-ब्रह्म परमात्मा की सर्वत्र व्याप्ति और उनके स्वरूप को सभी वाङ्मयों में विभिन्न प्रकारों से कहा गया है, -**'वहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्'**। (गीता-१३/१५) (सभी चराचर जीवों के अन्दर और बाहर भी रहनेवाला वह परमात्मा दूर भी है और पास भी अर्थात् सर्वव्यापी है।); **'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्चत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तं'**। (श्वे. उ. - १/१८)(बिना हाथों के सब ग्रहण करने वाला, बिना पैरों के वेग से दौड़ने वाला वह परमात्मा बिना नेत्रों के सब देखता और बिना कानों के सब सुनता है। वह सब ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञाता हैं पर उनको जानने वाला कोई नहीं है। उन्हीं को मनीषी पुरातन और महान् कहते हैं।); **'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।'** (श्वे. उ. ६/११)(वे अद्वैत परमात्मा सभी प्राणियों के अन्तर में आत्मारूप से छिपे हैं और सभी ओर व्याप्त रहते हैं। वे ही जीवों के कर्मानुसार फल देनेवाले और उनका आश्रय हैं, वे ही कर्म-साक्षी, सबको चेतना से ऊर्जित करने वाले निर्विकार और गुणातीत हैं।),

'बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्य रूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥' (मुण्डक उ. - **३/१/७**), (वे परमेश्वर महान्, ज्योतिर्मय और मन द्वारा चिन्तन में न आने वाले सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हैं। दूर से भी दूर (ग्रहों नक्षत्रों में) और अतिसमीप (हमारे अन्तर में) रहने वाले हैं। दर्शनार्थी साधकों की अपनी हृदय-गुहा में छिपे हैं।), **'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यत:।'** (ईशावास्योपनिषद - **१५**)(वही चेतना रूप से क्रिया शील हैं, वही स्थावर रूप से निष्क्रिय भी हैं, वेही आदित्य नक्षत्रवत् दूर हैं वही प्रत्येक जीव में आत्मा रूप से रहने से पास भी हैं, वे ही नाम रूपात्मक जगत में व्याप्त हैं और वही जगत के बाहर भी हैं।), **'विनु पद चलइ सुनइ बिनु काना, कर बिनु कर्म करइ विधि नाना। आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु वानी वक्ता बड़ जोगी।'** (रा.च.मा.-बा.कां. **११७/३**) **'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणश्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।'** (मुण्ड. उ. - **२/२/११**), (वह अद्वैत ब्रह्म ही आगे, पीछे, दांये, बायें, नीचे, उपर, सभी ओर व्याप्त हैं। यह जगत उसी ब्रह्म का सर्व श्रेष्ठ रूप है।) **'पूर्णात्पूर्णमुदेचति पूर्णं पूर्णेनसिच्यते। उते तदद्य विद्यामऽनस्तत्परिषिच्यते।'** (अथर्ववेद-**१०/८/२८**), (पूर्ण परमात्मा से ही पूर्ण जगत का उदय होता है, उसी पूर्ण परमात्मा द्वारा वह पोषित होता है। अत: हम उस परमात्मा को जानें जो संसार का पालनकर्ता है।), **'सहस्रशीर्षा पुरुष: सहस्राक्ष: सहस्रपात् सभूमिं सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्'**। (यजुर्वेद-**३१/१**)(सृष्टि के समस्त प्राणियों के रूप में अनेकों शिरों (स्थूल शरीरों), अनेकों नेत्रों (ज्ञानेन्द्रियों), अनेकों पैरों (कर्मेन्द्रियों) वाला वह परमात्मा पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतात्मकों एवं

स्थावर जंगमादि के रूप से इस ब्रह्माण्ड को सब ओर से व्याप्त कर स्थित है। तथा मनुष्यों की नाभि से दश अंगुल परिमाण हृदयगुफा में आत्मा रूप से स्थित है।) हृदय को कल्याणकारी रक्त के सर्वाङ्गसंचालन के लिये **हृदयं** (हृत+अयं) नाम दिया है, यही नाभि से उत्तर दशाङ्गुल पर और नासिकाग्र से दक्षिण भी दशांगुल स्थान पर स्थित है। हृदय की महत्ता जीव चेतना को नाड़ियों में स्पन्दन रूप से अनुभव कराने के लिये मानी जाती रही है इसी से इसे आत्मा का स्थान मानकर 'स्पृत्वात्यतिष्ठत् दशाङ्गुलिम्' पद का उपयोग किया गया जो सर्वथा उपयुक्त है। पर आधुनिक शरीर विज्ञान द्वारा शरीर को रोगाणु-संक्रमण की प्रतिरोधी और जीवन को सुचारू रूप से चलाने में '**पिट्ट्यूटरी**' तथा '**थाइमस**' अन्त:स्त्रावी ग्रन्थियों की महत्व पूर्ण भूमिका के परिप्रेक्ष्य में इसी **स्पृत्वात्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्** के न्याय से नासिकाग्र से दशांगुल उत्तर मस्तिष्क में स्थित पिटटयूटरी को अथवा नासिकाग्र से दशांगुल दक्षिण छाती में स्थित थाइमस को भी आत्मा का स्थान माना जा सकता है। अस्तु।

(५७)

अतद्व्यावृत्तिरूपेण वेदान्तैर्लक्ष्यतेद्वयम् ।
अखण्डानन्दमेकं यत्तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत ॥५७॥

वेदान्त सन्धानित परम लक्ष्य अद्वैत ब्रह्म जो
नेति-नेति की व्यतिरेक अन्वयं विधि से ज्ञेय जो।
एकमात्र चिरन्तन अपरिमित आनन्द के श्रोत जो
चिन्तन-मनन से उसी ब्रह्म की अवधारणा हो॥

तत्त्वज्ञान के प्राप्त करने की प्रक्रिया के विषय में श्लोक - २६ की

टीका में कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। **श्रवण** तथा **दर्शन** द्वारा तथ्यों को एकत्रित कर मनन-चिन्तन करने के उपरान्त **निदिध्यासन** द्वारा तत्त्वनिरूपण होता है। इसी में **व्यावृत्ति** (तत्त्वों की छांट) करने की क्रिया के अन्तर्गत **अन्वय** और **व्यतिरेक** किया जाता है। ये दोनों क्रमशः प्रतिपादन करने वाले अनुकूल तत्त्वों का संग्रहण तथा विरोधी प्रतिकूल तत्त्वों को **नेति-नेति** के विचार द्वारा छोड़ना ही होते हैं, जिनकी वेदान्त-दर्शन में महत्वपूर्ण भूमिका है। इसी को ब्रह्म अथवा आत्मा के स्वरूप के निरूपण हेतु प्रयुक्त करने का निर्देश इस श्लोक में किया गया है। बृहदारण्यकउपनिषद - **२/३/६**, में कहा है -'**अथात आदेशः-नेति-नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति।**' (अब नेति-नेति की निषेध पद्धति से ब्रह्म स्वरूप पर विचार हो, क्योंकि इससे उपयुक्त कोई अन्य विधि नहीं है।)

(५८)

अखण्डानन्द रूपस्य तस्यानन्दलवाश्रिताः।
ब्रह्माद्यास्तारतम्येन भवन्त्यानन्दिनो लवाः॥५८॥

उन्हीं चिरन्तन आनन्द-विग्रह ब्रह्म के
लेश मात्र ही आनन्द के आश्रय से
उनके संग निज तारतम्य के अनुपात से
ब्रह्मादि देव भागी होते हैं आनन्द के॥

पूर्ववर्ती श्लोकों में ब्रह्म के सच्चिदानन्द, परम आनन्द श्रोत, परम ज्ञान एवं परम लाभ आदि स्वरूपों की चर्चा की गई है। आनन्द के असीम श्रोत होने से देवतागण भी उनसे अपने-अपने **तारतम्य** के अनुपात से आनन्द की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार जैसे भिन्न-भिन्न आकारों के बर्तन किसी, जल के श्रोत में डाले जाने पर अपने-अपने आयतन के अनुसार

जल प्राप्त करते हैं। सनातन धर्म के अनुसार पुण्यात्मा लोग देह त्याग करने पर स्वर्ग लोक में देव योनि प्राप्त कर अपने अर्जित पुण्यों का भोग करते हैं और **क्षीणे पुण्ये** पुन: मर्त्य लोक में जन्म पाते हैं। तब ब्रह्म साक्षात्कार रूप ज्ञान पाने पर वे सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य या सायुज्य मोक्ष पाते हैं। इसी से उन में देवत्व का परिमाण भी अलग-अलग होता है और उसी के अनुपात से वे **ब्रह्मानन्द** की प्राप्ति करते है। **ब्रह्माद्यास्तारतम्येन भवन्त्यानन्दिनो लवा:** कहने का यही आशय है।

(५६)

तद्युक्तमखिलं वस्तु व्यवहारस्तदन्वित:।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म क्षीरे सर्पेरिवाखिले ॥५६॥

सृष्टि के सब पदार्थ ब्रह्ममय ही होते
सब कार्य-कलाप ब्रह्म-प्रेरित ही होते।
जैसे दुग्ध में अदृश्य घृत - कण होते
वैसे ही सृष्टि में सर्वत्र ब्रह्म ही होते।।

शास्त्रों में ब्रह्म की व्याप्ति तीन प्रकार से होनी, कही गयी है - **(१) अस्ति** या **सत्व** - सर्वव्यापी रूप से ब्रह्म की सत्ता सब ओर होती है, यह आप्त बचनों से प्रमाणित है। **(२) भाति या आभास** - ब्रह्म चेतना रूप से सभी में लक्ष्य होते हैं। उसी से प्राणियों का शरीर-इन्द्रियां ऊर्जित रहती हैं। ब्रह्म आभास या ज्ञान रूप हैं इसका प्रमाण यह भी है कि सभी प्राणी प्रकाश में सुख और स्फूर्ति का अनुभव करते हैं और अन्धकार में मोह और प्रमाद। प्रकाश ज्ञान का ही पर्याय है। श्रुति ब्रह्म को ज्ञान एवं प्रकाशमय बताती है। **(३) प्रिय या आकर्षण** - सभी प्राणी अपने प्रति सबसे ज्यादा प्रेम रखते हैं, क्योंकि आत्मा ब्रह्मरूप ही है। यह आकर्षण ब्रह्म एवं आत्मा का ही गुण है। इसी प्रकार **अस्ति** या सत **सत्य** भी होता

है। **भाति** या ज्ञान कल्याणकारी होने से **शिव** ही है। **प्रिय** अथवा आकर्षण सुन्दर के प्रति ही होता है। इसी से ब्रह्म और आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप होने से **सत्यंशिवं सुन्दरम्** भी हैं।

क्षीर में सर्पि (घी) होता है पर दिखाई नहीं देता, ऐसे ही जगत में ब्रह्म हैं पर दिखते नहीं। पर जब दूध से घी प्राप्त करने के लिये, दूध को उबालकर, दही जमाया जाता है और उसका मन्थन कर नवनीत निकाला जाता है । तब उसे गरम करने पर हमें घी प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार संसार में ब्रह्म की प्राप्ति हेतु आध्यात्मिक ज्ञान साधना रूप मन्थन करने से ब्रह्म को नाम-रूप वाले नश्वर पदार्थों से भिन्न जानकर, अलग करने से **ज्ञान** रूप ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। चाणक्य नीति -७/११ में कहा गया है -**'पुष्पे गंधं तिले तैलं काष्ठे बह्निः पयोघृतम्। इक्षौ गुड़ं तथा देहे पश्यात्मानं विवेक कृतः।'**(फूलों में सुगन्ध, तिल में तेल, काठ में अग्नि, दुग्ध में घृत, गन्ने में शर्करा तथा शरीर में आत्मा को ज्ञान चक्षुओं के द्वारा ही देखा जा सकता है।) श्वेताश्वतरोपनिषद - १/२/१५ में कहा है, **'तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः श्रोतस्वरणीषु चाग्नि :। एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसो सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति'**। (जैसे तिलों में छिपे तेल, दही में छिपे घी, नदी के अन्तस्थ स्रोतों में छिपे जल और अरणियों मे छिपी अग्नि को उनके लिये बताये साधनों से प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार अन्तर में छिपे आत्मा रूप परमात्मा को भी सत्य और तपरूप योग के यम-नियमादि साधनों द्वारा जाना जा सकता है।)

(६०)

अनण्वस्थूलमह्रस्वमदीर्घमजमव्ययम् ।
अरूपगुणवर्णाख्यं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥६०॥

न सूक्ष्म न स्थूल न लघु न दीर्घ ही जो

जन्म - मृत्यु रहित और अविनाशी भी जो।
निराकार निर्गुण और वर्ण रहित कहलाते जो
उन्हीं ब्रह्म की अवधारणा कर चिन्तन हो।।

इस श्लोक का तात्पर्य यही है कि ब्रह्म (तथा उसके ही स्वरूप) आत्मा इन्द्रियातीत हैं तथा हमारी मन एवं बुद्धि की पहुंच से परे हैं। इन को जानने का ज्ञान ही एक मात्र साधन है। बृहदारण्यकोपनिषद के याज्ञवल्क्य काण्ड में विदेह राज जनक के यज्ञ सत्र में ब्रह्मचर्चा का विस्तार में वर्णन है। विदुषी गार्गी के प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ब्रह्म के स्वरूप को परस्पर विरोधी गुणोंवाला बताते हुवे कहते हैं,- **'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति, अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घ - मलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धम चक्षुश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्, न नदश्नाति किंचन, न तदश्नाति कश्चन।'** (३/८/८)(हे गार्गि ! उस अविनाशी को ब्रह्मज्ञानी कहते हैं कि वह, न स्थूल न सूक्ष्म, न छोटा न बड़ा, न लाल न किसी भी रंग का, न चिकना न छाया या न अन्धकार जैसा, न वायु अथवा आकाश जैसा ही, न असङ्ग, न रस गन्ध वाला ही, न नेत्र, कान, वाणी मुख वाला ही है। न उसका कोई माप है, उसके लिये न बाहर है या अन्दर है। वह न कुछ खाता है या न किसी का खाद्य ही है।) **इस प्रकार कहने का तात्पर्य यही है कि वह गुणातीत और एक मात्र अद्वैत है।**

(६१)

यद्भासा भास्यतेऽर्कादि भास्यैर्यस्तु न भास्यते।
येन सर्वमिदं भाति तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥६१॥

जिसके तेज से प्रकाशित सूर्यादि नक्षत्र सभी
नहीं जिनका प्रकाशक कहीं कोई कभी।
सारा जगत होता प्रकाशित जिनके तेज से ही
उसी ब्रह्म की अवधारणा करें चिन्तन भी।।

गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को बतलाते हैं,- **'न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।'** (गीता-१५/६) (जहां न सूर्य, न चन्द्रमा और न अग्नि प्रकाशित करती है ऐसा मेरा परमधाम है। जो मेरे ही तेज से प्रकाशित रहता है। वहां पहुचने पर कोई वापस नहीं आता अर्थात् जन्म-मृत्यु के बन्धन में नहीं पड़ता।) उपनिषदों में भी इसी प्रकार से ब्रह्म-धाम के वर्णन में कहा गया है - **'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमाविद्युतोभान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**।। (मुण्डक -२/२/१०, श्वे. उ. - ६/६/१४ और कठोपनिषद - २/२/१५) अर्थात् उस परम धाम को प्रकाशित करने की सामर्थ्य सारे संसार को प्रकाशित करने वाले सूर्य चन्द्र नक्षत्र, विद्युत और अग्नि में नहीं है। क्योंकि ये सभी उसी परम ब्रह्म की ज्योति से प्रकाश पाते हैं। जिसका चेतना रूप प्रकाश सारी सृष्टि में फैला हुवा है।

(६२)

स्वयमन्तर्बहिर्व्याप्य भासन्नखिलं जगत।
ब्रह्म प्रकाशते वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत्।।६२।।

व्याप्त कर निज तेज को अन्दर - बाहर सर्वत्र ही
आलोकित करें ब्रह्म इस जगत को सम्पूर्ण ही।
जैसे अग्नि से तप्त हो आलोक देता लौह पिण्ड भी
ब्रह्म के तेज से ही हैं आलोकित ग्रह-नक्षत्र भी।।

जैसे अग्नि में तपाया गया लौह पिण्ड अग्नि के गुण प्राप्त कर अग्नि के ही समान प्रकाश की आभा देता और जलाने वाली ऊष्मा रखता है। उसी प्रकार ब्रह्म के तेज को पाकर सूर्य, चन्द्र, विद्युत, अग्नि संसार में प्रकाश और ऊष्मा देने वाले बनते हैं।

(६३)

जगद्विलक्षणं ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्यन्न किश्चन ।
ब्रह्मान्यद्भाति चेन्मिथ्या यथा मरुमरीचिका॥६३॥

सृष्टि में हैं न कुछ भी जो ब्रह्ममय नहीं
ब्रह्म से ही है प्रकट यह ब्रह्मरूप यही।
पर ब्रह्म से भिन्न भासता मिथ्या सम जगत ही
जैसे भ्रान्ति से ही जलाभास हो जाता मृगतृष्णा में भी॥

ब्रह्म ही जगत्कारण है इसलिये चराचर ब्रह्ममय ही हैं। पर माया रूप अविद्या से संसार विलक्षण प्रतीत होता है। यद्यपि इसका कारण ब्रह्म है और कार्य कारण से भिन्न नहीं होता। अत: यथार्थ रूप से यह ब्रह्ममय ही है। तत्त्वज्ञानी सभी में ब्रह्म-दृष्टि रखते हैं, पर द्वैत बुद्धिवाले अज्ञानी भेद-भ्रान्ति की दृष्टि से सबको देखते हैं। अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में शङ्कराचार्य जी ने कहा है, -'**श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः। ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव ना परः॥**' (जो बात अनेकों शास्त्र-ग्रन्थों में कही गयी है, उसे में आधे श्लोक में ही कहता हूँ - ब्रह्म सत्य है, संसार मिथ्या है और जीव भी ब्रह्म ही है अन्य नहीं।) मृगतृष्णा के दृष्टान्त में भी वहां मरुस्थल में तप्त बालुका ही है जो ब्रह्ममय ही है पर अविद्या जनित भ्रान्ति द्वारा (सूर्य की किरणों के वायु में आवर्तन से), वहां जल का भ्रम होता है, जो वास्तव में वहां नही हैं। भ्रम के ब्रह्ममय होने का प्रश्न ही नहीं होता!

(६४)

दृश्यते श्रूयते यद्यद्ब्रह्मणोऽन्यन्न ।
तत्त्वज्ञानाच्च तद्ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥६४॥

जो भी जगत में दृष्टिगोचर वस्तु हैं सभी
वे ब्रह्म रूप ही हैं अन्य कुछ भी हैं नहीं।
अविद्या के नाश औ तत्त्वज्ञान के उदय से ही
भासता यह जगत सच्चिदानन्द अद्वैत ब्रह्म ही॥

ब्रह्म इन्द्रियातीत होने पर भी कारण रूप से सभी पदार्थों में स्थित रहते हैं, पर भेद-बुद्धि के कारण हम सभी पदार्थों में भिन्नता देखते हैं, तत्त्व ज्ञान होने पर भेद-बुद्धि नहीं रहती और अद्वैत सच्चिदानन्द ब्रह्म का आभास सभी में मिलता है।

(६५)

सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते ।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥६५॥

सर्वव्यापी सच्चिदानन्द चेतनात्मा
का हो सके दर्शन ज्ञान चक्षु खुलने से।
अन्धा ज्योतिर्मय सूर्य को न देखे
ऐसा ही अन्तर में अज्ञान रहने से॥

गीता में भी स्पष्ट किया गया है, -'**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः**'। (गीता - ५/१५) (ज्ञान में अज्ञान का पर्दा पड़ने के कारण प्राणी मोह के भ्रम से आविष्ट होते हैं।) मुण्डकोपनिषद - ३/३३/१/८ में भी कहा गया है, -'**न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा**

नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।।' (उस अवयव रहित अमूर्त ब्रह्म को, न नेत्र वाणी या अन्य इन्द्रियों से तथा न तप उपासनादि कर्मों से ही प्राप्त किया जा सकता है। उसे तो विशुद्ध अन्तःकरण वाले साधक द्वारा निरन्तर ध्यान किये जाने से ज्ञान की निर्मलता से प्राप्त किया जा सकता है।)

(६६)

श्रवणादिभिरुद्दीप्तज्ञानाग्निपरितापितः।
जीवस्सर्वमलान्मुक्तः स्वर्णवद्द्योतते स्वयम्॥६६॥

श्रवण मनन निदिध्यासन से दीपित ज्ञानाग्नि-तप्त जब
जीव होवे अज्ञान जनित वासनादि मलिनता- त्यक्त तब।
जैसे सभी मल छोड़ शुद्ध हो दमके स्वर्ण अग्नि-तप्त जब
वैसे ही जीव भी शुद्ध बुद्ध हो दमकता अज्ञान-त्यक्त जब॥

ज्ञान का उद्दीपन शास्त्र वचनों के श्रवण-मनन और निदिध्यासन करने से होता है। इसी प्रकार यथार्थ ज्ञान पाने से जीव अज्ञान छोड़ कर शुद्ध-बुद्ध हो जाता है, जैसे सोना आग में तपाये जाने पर अपना विकार छोड़ कर शुद्ध हो जाता है। इसी आशय से गीता में कहा है, -**'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।।'** (गीता-४/३७) (हे अर्जुन, जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि वासना जनित सभी कर्मों को नष्ट कर देती है।)

(६७)

हृदयाकाशोदितो ह्यात्मा बोधभानुस्तमोऽपहृत।
सर्वव्यापी सर्वधारी भाति भासयतेऽखिलम्॥६७॥

जब अज्ञान - तिमिर सब विलय हो जाता
हृदयाकाश में ज्ञान - सूर्य उदय हो जाता।
तभी अन्तर का सब कलुष दूर हो जाता
सर्वव्यापी जीवनाधार आत्मा का बोध हो जाता।।

जैसे आकाश के बादलों रहित निर्मल रहने से प्रात:कालीन सूर्योदय के दर्शन हो जाते हैं, वैसे ही हृदयाकाश अर्थात् अन्त:करण स्वच्छ होने पर आत्मोदय का दर्शन संभव होता है। जैसे सूर्योदय होने पर रात का अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही शुद्ध अन्त:करण में आत्मोदय होने से अन्त:करण का सारा अज्ञान नष्ट हो जाता है अज्ञान से कलुषित **जीव** संसार से मुक्ति के लिये बाधक होता है और अपनी दुर्गति कराता है। तभी गीता - १/५ में कहा है, -**'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवादयेत। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन:।'** (जीवात्मा स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही शत्रु भी। इसलिये मनुष्य को उचित है कि ज्ञान प्राप्त कर स्वयं संसृति-बन्धन से अपना उद्धार करे और कलुषित कर जीवात्मा को अधोगति में न पहुचाऐं।)

(६८)

दिग्देशकालाद्यनपेक्ष्य सर्वगं
शीतादिहृन्नित्यसुखं निरञ्जनम्।
यत्स्वात्मतीर्थं भजते विनिष्क्रिय:
स सर्ववित्सर्वगतोऽमृतो भवेत्।।६८।।

दिशा देश काल से अबाधित सर्वव्यापी है आत्मा
शीत उष्णादि द्वन्दों को हरती नित्य सुख है आत्मा।
कर्म-निवृत्त हो सेवन करें जो तीर्थ रूप से यह आत्मा
हों सर्वज्ञ सर्वगामी अमर पायें विलय-परमात्मा।।

इस उपसंहार रूप अन्तिम श्लोक में शङ्कराचार्य जी फलश्रुति रूप से आत्मज्ञान की साधना का प्रभाव बतलाते हुवे, इसे आत्मतीर्थ सेवन की संज्ञा देते हैं। जैसे तीर्थ सेवन से कल्याण होता है - सन्तों के सत्संग और शास्त्रों के श्रवण एवं स्नान-ध्यान, जप, तप से आध्यात्मिक उन्नति होती है पापों का शमन होता है, उसी प्रकार **'आत्मा-तीर्थ'** के सेवन से आत्मज्ञान पाकर मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है और जन्म-मृत्यु के चक्र से मनुष्य छूट जाता है। आत्मतीर्थ लौकिक तीर्थों से अधिक उत्तम है, क्योंकि तीर्थों में स्थान दूर होने से आने-जाने का कष्ट, खर्च, अपनी सुरक्षा, पराये स्थान में रहने की असुविधा, पण्डों की ठगी आदि अनेक कष्ट होते हैं, पर आत्मतीर्थ सेवन में ये झंझट नहीं होते। महाभारत उद्योगपर्व में महात्मा विदुर धृतराष्ट्र से कहते हैं, -**'आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः। तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा पुण्योह्यात्मा नित्यमलोभ एव'**। (हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! यह जीवात्मा रूपी नदी पवित्र तीर्थों वाली है, इसमें (ईश्वर अंश होने से) सत्य रूप जल प्रवाहित होता है, धैर्य ही इसके किनारे हैं, इसमें दया की लहरें उठती हैं। पुण्य कर्मों का आचरण करने वाला इसमें स्नान करने से पवित्र हो जाता है, क्योंकि सदा लोभ रहित आत्मा पवित्र ही है।)

यहां आत्मा नदी में स्नान कर पवित्र होने से तात्पर्य हैं - आत्मनिष्ठ हो ज्ञानवृत्ति करने, परमात्मा के चिन्तन-मनन और अपने व्यवहार में सत्य दया और धैर्य आदि परोपकारी सद्गुणों का समावेश करते हुवे, जीवन-यापन कर परमपद प्राप्त करना।

।।इति श्री मच्छङ्कराचार्य कृतं आत्मबोधः।।

इति

अथ श्री रमण महर्षि कृतं
उपदेश-सारम्।

(१)

कर्तुराज्ञया प्राप्यते फलम्
कर्म किं परं कर्म तज्जड़म् ॥१ ॥

कर्मफल ईश्वरीय विधान से ही पाते
ये परम नहीं वरन् जड़ कहलाते।।

गीता में भगवान कर्मों के पांच कारण बतलाते हैं, जो मिलकर उन्हें सम्पन्न करते हैं, -**'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक्चेष्ठा दैवं चेवात्र पंचमम्।'** (गीता - १८/१४) (निमित्त, कर्ता, इन्द्रियादि साधन, वासना और संकल्प रूप प्रेरणा तथा पांचवां दैव रूप से अपने संस्कार।) व्याकरण में भी कर्म वही कहा जाता है, जिसमें कर्ता की वासना या संकल्प रूप से क्रिया का प्रभाव होता है। उपरोक्त पांच कारणों के सहयोग से होने वाले कर्मों के फल भले बुरे या मिश्रित होते हैं। **'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्'**। (गीता - १८/१२)। कर्म के इन पाचों साधन रूप कारणों से किसी के हाथ में कर्म-फल नहीं होते हैं। यदि ऐसा होता तो हमें सदा कर्मों के इष्ट फल ही मिलते क्योंकि इन सब सभी में कर्ता सबसे अधिक प्रभाव शाली होता है। पर कर्ता की कर्मवासना रूप चेष्ठा प्रकृति के सत्व, रज और तम गुणों वाली होती है। गीता में इसी आशय से वचन है। -**'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः** (१३/२८) (सभी कर्म प्रकृति द्वारा ही किये हुवे होते हैं।) **'कार्य करण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृति रुच्यते।'** (कार्य रूप शरीर

और उसके दशेन्द्रिय मन, बुद्धिं अहंकार रूप तेरह करण तथा इनकी कर्तृत्वशक्ति प्रकृति में ही निहित हैं।) (१३/२०), '**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।**' (३/२७) (कर्म तो प्रकृति के गुणों-सत्व-रज-तम-द्वारा किये जाते हैं पर अहंकार से भ्रमित जीव स्वयं को कर्ता मानता है।) तथा '**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त**' (५/८) (इन्द्रियां ही अपने विषयों में व्यवहृत रहती हैं।), जिनसे स्पष्ट है कि कर्मफल हमारे हाथ में नहीं होते। यही बात भगवानश्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं -'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि**'। (गीता-२/४७) (तुम्हारे अधिकार में कर्म करना ही है उनके फल नहीं, इसलिये कर्म-फल-वासना न हो और न अकर्मण्यता ही होनी चाहिये।)

इस श्लोक में महर्षि रमण भी कहते हैं कि सृष्टि कर्ता के 'कर्मफल परिपाक विधान' रूप आज्ञा से ही कर्मों के **संचित, आगामी** और **प्रारब्ध** रूप से फल प्राप्त होते हैं। कर्म जड़ होते हैं और चेतन जीव के विना संभव नहीं होते ये 'परम' नहीं कहे जा सकते हैं। परम चेतनात्मा होती है जिसका कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह शुद्ध निर्विकार अज अद्वैत सच्चिदानन्द रूप होती है और मात्र साक्षी रूप से रहती है । अविद्या से कलुषित जीव ही प्रकृति की प्रेरणा से कर्म करता है और उनके फल भोगता है। जैसा चाणक्य नीति में कहा गया है, -'**स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते । स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥**' (चा.नी. - ६/८) (जीव स्वयं कर्म करता है, स्वयं उनके फल भोगता है। जिसके हेतु वह स्वयं संसृति में भ्रमण करता है और स्वयं आत्मज्ञान पाकर मुक्ति पाता है।)

(२)

कृति महोदधौ पतनकारणम् ।
फलमशाश्वतं गतिनिरोधकम् ॥२॥

वासना जनित कर्म ही मनुज को संसृति में लाते।
नश्वर होते इनके फल यही मुक्ति के बाधक हो जाते॥

साधारणत: मनुष्य कर्मों के प्रति तत्पर, उनके फलों के रूप यथेच्छ सुख पाने के लिये ही रहते हैं। चाहे वे सुख क्षणिक ही क्यों नहों। फलों के भोग की इच्छा ही सबको कर्मों की ओर प्रेरित करती है। पर ये क्षणिक सुख आसक्ति को जन्म देते हैं और उन्हीं सुखों के भोग हेतु मनुष्य को बार-बार तत्तत कर्मों की ओर प्रेरित करते हैं और इस प्रकार, **'भोगों के लिये कर्म और कर्म से भोग'** का अनवरत चक्र बन जाता है जो वासना जनित होता है। एक बार वासना से उद्वेलित होंने पर मन की शान्ति नष्ट हो जाती और उसे पूरा करने की ओर ही मनुष्य की प्रवृत्ति होती रहती है। इसी **वासना → कर्म → वासना** के अन्तहीन दुश्चक्र को महर्षि ने **'कृति महादेधौ पतनं'** कहा है, क्योंकि मनुष्य एक बार इस भंवर में पड़ने से वासनाओं का दास बन जाता है और मानसिक तथा आध्यात्मिक रूप से अध:पतन को उन्मुख होता हुवा जन्म-मृत्यु रूप जग-कारा में ही बारम्बार जन्मता-मरता रहता है। गीता बताती है, -**'ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्म चोदना। करणं कर्म कर्तेति त्रिविध: कर्म संग्रह:॥'** (गीता-१८/१८) (ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता - तीनों कर्म की प्रेरणा करने वाले होते हैं तथा कर्म साधन क्रिया और कर्ता तीनों के ही संयोग से कर्म होता है।) ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता द्वारा कायिक वाचिक और मानसिक, कर्मों के सम्पादन की प्रेरणा, उनके फलों के प्रति इष्ट अनिष्ट या उदासीन भावना से उदय होकर, करण क्रिया और कर्ता को सत्व रज एवं तम गुणों

से प्रभावित कर कर्म-जाल बुनते हैं। गीता में इस प्रकार संसृति-सागर में पड़ने से रोकने के लिये **अनासक्त** और **निष्काम** होकर कर्म करने का उपदेश किया गया है -**'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर । असक्तो ह्याचरन कर्म परमाप्नोति पूरूषः ।।'** (गीता-३/१८) (अनासक्त हो कर्म करने से परम-पद रूप मुक्ति की प्राप्ति होती है, इसीलिये सदा वासना को त्याग कर कर्म करना चाहिये।) मनुष्य के जीवन का ध्येय **परमगति** रूप मोक्ष की प्राप्ति ही है, और वासना युक्त कर्म इसमें बाधक होते हैं और संसृति में बांधते हैं, चाहे वे कर्म लौकिक हों या आध्यात्मिक।

(३)

ईश्वरार्पितं नेच्छया कृतम् ।
चित्तशोधकं मुक्ति साधकम् ॥३॥

फलवासना छोड़ ईश्वर-निमित्त कर्मों से ही।
मुक्ति-मार्ग प्रशस्त होता चित्तशुद्धि से ही।।

संसार कर्मक्षेत्र है, यहां अपने जीवन-यापन हेतु कर्म आवश्यक होते हैं। हमें कर्मेन्द्रियां इसी लिये प्राप्त हैं। अपने नैसर्गिक रूप में कोई भी कर्म बन्धन कारी अथवा दुःखदायी नहीं होता। कर्मों के साथ उनके फलों की लिप्सा जुड़ी होने से कर्म बन्धन करने वाले अथवा दुःख देने वाले बन जाते हैं। कर्मों के फल भी हमारे लिये दुःख के कारण नहीं बन जाते, क्योंकि उनका कुछ न कुछ फल तो होना ही है। पर जब उनमें हमारी - **'इष्ट फल ही प्राप्त हों'** की आग्रह रूप वासना संयुक्त होती है - तभी वे हमारे दुःखों का कारण बनते हैं। जैसे किसी परीक्षा में सम्मिलित होने पर कोई यह आग्रह मन में रखे कि मुझे प्रथम श्रेणी ही मिले तब वह द्वितीय श्रेणी प्राप्त करने पर भी दुःखी होता है। परीक्षाफल या पास होने की

इच्छा दुःख का कारण नहीं होती वरन **मुझे इष्ट फल ही मिले** की वासना या आग्रह से ठीक वैसा न होने पर दुःख होता है। लौकिक कर्मों के जैसे भी फल हों उनके पाने के लिये कर्म करना हमारे हाथ में रहता है पर उनका फल हमारे विवेक से बाहर होता है और दैव के वश में होता है। चुनाव में खड़ा प्रत्येक प्रत्याशी चुने जाने की भावना से प्रेरित होता है पर केवल एक का ही चुनाव होता है, ऐसी सभी प्रतियोगिता के मामलों में महर्षि के पूर्व श्लोक में कथित, -**'कर्तुराज्ञया प्राप्यते फलम्'** को ध्यान में रखते हुवे, अपने बुद्धि - कौशल एवं पुरुषार्थ का प्रयोग कर प्रयत्न करनेसे चित्त में उद्वेग नहीं होता और अप्रत्याशित फल प्राप्त होने पर भी अन्तःकरण शान्त रहता है। व्यवहार में **निष्काम कर्म** की साधना कठिन होती है, क्योंकि विना निहित स्वार्थ या वासना के मनुष्य कर्म-रत नहीं होता यह सामान्य मानव स्वभाव ही है। पर निरन्तर अभ्यास से स्वभाव में परिवर्तन किया जा सकता है जिससे यही स्वभाव पारमार्थिक ज्ञान की प्राप्ति का भी साधन बनता है। महाभारत शान्ति पर्व - **२०८/८** में कहा है, -**'ज्ञानं उत्पादयते पुंसामक्षयात्पापस्य कर्मणाः। यथादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानामात्मनि।''** (मनुष्यों के अन्तर में ज्ञान का स्फुरण उनके पापों के क्षय होने पर ही होता है, जैसे निर्मल दर्पण में मनुष्य अपना प्रतिबिम्ब देखता है, मैले में नहीं।) निष्काम कर्म ही अन्तःकरण के परिमार्जक होते हैं। इसी लिये गीता में निष्काम कर्म की प्रतिष्ठा है। कर्मों के वासनारहित होकर सम्पादन अथवा ईश्वर निमित्त या सार्वजनिक हित के परोपकारिक कर्मों से हमारे अन्तःकरण में उनके प्रति कोई निहित स्वार्थ या वासना नहीं होती और उनके फलों के प्रति हमारी मनोवृत्ति उदासीन रहती है। यही इस श्लोक के **नेच्छया कृतम्** से तात्पर्य है। गीता में भी कहा है, -**'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्ममत्रमिवाम्भसा॥'** (गीता - **५/१०**) (जो अपने कर्मों को फलासक्ति त्याग कर और ईश्वरार्पित कर सम्पादित करते हैं वे पाप से

प्रभावित नहीं होते, जैसे जल में रहने पर भी कमल के पत्ते जल से निर्लिप्त रहते हैं।) यहां पाप से तात्पर्य दुर्वासना, मनोविक्षेप, द्वेषादि भावनाओं से अथवा कर्तृत्व के अभिमान से ग्रसित होने से है। गीता में इसी कारण **लोक संग्रह** अथवा **समष्टि रूप ईश्वर निमित्त** कर्मों की प्रशस्ति की गई है, और उन्हें **यज्ञ** की संज्ञा दी गई है।

ईश्वरार्पण बुद्धि से अर्थात् ईश्वर को कर्माध्यक्ष एवं कर्मफलदाता मानकर कर्म करने से, वे कर्म चित्त को शुद्ध करने वाले और मुक्ति मार्ग को प्रशस्त करने वाले होते हैं तथा फलासक्ति से प्रेरित होकर किये कर्म संसृति-बन्धन-कारी होते हैं, इसी विवेक के साथ कर्मों का सम्पादन ही **कर्मयोग** है।

(४)

कायवाङ्मनः कार्यमुत्तमम् ।
पूजनं जपश्चिन्तनं क्रमात् ॥४ ॥

शरीर वाणी मन से क्रमशः कर्म पूजन कीर्तन ध्यान के होते।
क्रम में प्रथम द्वितीय उत्तरोत्तर उत्तम वे होते॥

भक्ति, हमारी परमात्मा एवं आत्मा के प्रति शरीर वाणी और मन की चेष्टाओं द्वारा प्रकट होने वाली समर्पण भावना युक्त संबंध है। यही हमारे सांसारिक जीवन के चरम लक्ष्य जन्म-मृत्यु के चक्र से छूटने - का स्वाभाविक मार्ग भी है। अपनी चरम अवस्था **में** यही **परा** रूप से **समष्टि** रूप परमात्मा से जुड़कर मनुष्य को इष्ट-निष्ठा की संकीर्णता से उपर उठाकर समस्त जीवों के प्रति प्रेम और उदारता का भाजन बना देती है नारद भक्ति सूत्र में भक्ति को परमात्मा के प्रति निष्काम परम-प्रेम, अटूट श्रद्धा, आत्म-समर्पण, अनन्यता और निरन्तर उन्हीं की महानता का चिन्तन जैसे अनेक सूक्ष्म अनुभव जिनकी परिणति भक्तों के लौकिक

व्यवहार में चरितार्थ होती है, बताया है। ज्ञान भी भक्ति के रस से संम्पृक्त होकर एकाकार हो जाता है इसी से गोस्वामी जी ने कहा है -**'भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।।'** (रा.च.मा.उत्तर कां.)

हम जीव रूप से **ईश्वर अंश** हैं, अत: अपने अंशी ईश्वर के प्रति हमारी अन्तरङ्गता अनिवार्य है। जैसे समुद्र में उठने वाली लहरें कुछ क्षणों तक ही परस्पर संबद्ध रहती हैं और उनकी अन्तरङ्गता समुद्र के जल से ही होती है उसी प्रकार हमारा संबंध **व्यष्टि** में जीव रूप से **समष्टि** ईश्वर के साथ घनिष्टतम होता है।

भक्ति भावना का संवेग शरीर वाणी और मन से प्रकट होता रहता है। **शरीर से** इष्ट की पूजा, **वाणी से** नाम-जप या कीर्तन और मन से स्वरूप का ध्यान, होने से भक्ति का प्रकटीकरण होता है। **पूजा** करने में शरीर के साथ वाणी और मन का सहयोग आवश्यक होता है, जो मिलना कठिन होता है। **नाम-जप** में वाणी के साथ मन की संलग्नता भी वांछित होती है और यह पूजा से अपेक्षाकृत सरल है। **ध्यान** या **उपांशु जप,** केवल मानसिक होने से, इन सभी से सरल है, तभी ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ कहे गये हैं।

(५)

जगत ईशधीयुक्तसेवनम्।
अष्टमूर्तिभृद्देवपूजनम् ॥५॥

संसार के प्राणियों की ईश्वर - भाव से सेवा करना ही।
है साक्षात् विराट् पुरुष रूप के अष्ट-देव पूजा करना ही।।

सृष्टि के उपादान **आकाश वायु तेज जल पृथ्वी** रूप पंचमहाभूत और यजुर्वेद (७/४२) **'सूर्य आत्माजगतस्थुषश्च'** अनुसार स्थावर

जंगमों की आत्मा **सूर्य** और यजुर्वेद (**३१/१२**) **'चन्द्रमा मनसो जातः'** वचनानुसार जगत का मन **चन्द्रमा** तथा ईश्वर अंश **जीव**, ये आठ **अष्टमूर्ति** कहे जाते हैं। समष्टि रूप परमात्मा का विराट् शरीर रूप यह **जगत** पञ्चमहाभूतों से बना है, सूर्य इसकी आत्मा, चन्द्र मन है, ईश्वर अंश असंख्य जीव इस विराट् में वास करते हैं। इस प्रकार से दिखाई देने वाले जगत रूप विराट् पुरुष की सेवा, परमेश्वर की ही पूजा है। जगत में ईश्वर-दृष्टि रखने अर्थात परमेश्वर को जगत के रूप में सर्वव्यापी भावना से देखने से सब जीवों के प्रति आदर और प्रेम धरना, किसी के प्रति भी किसी प्रकार की हिंसावृत्ति या द्वेष न रखना जगत की सेवा ही है। महाभारत **'अहिंसा परमो धर्मः'** कह कर अहिंसा को सर्वोत्कृष्ट धर्म बतलाता है। सभी धर्मों में अहिंसा, दया, प्रेम, आदि गुण सच्चरित्रता के गुण माने गये हैं। गीता में इन्हीं को **दैवी सम्पदा** कहकर मोक्षदायी बताया है। (गीता-**१६/२, ३**)। देवर्षि नारद भी भक्ति सूत्र में कहते हैं - **'अहिंसा सत्य शौचेदयास्तिक्यादि चारित्र्याणि पालनीयानि'** (सूत्र - **७८**) (भक्ति में अहिंसा सत्य शौच दया आस्था जैसे गुणों का चरित्र में निर्वाह करना आवश्यक है।) गीता जीव-प्रेम को ईश-प्रेम बताते हुवे कहती है, -**'समः सर्वेषु भूतेषु मद्‌भक्तिं लभते पराम्।'** (अ. **१८/५४**)।

(६)

उत्तमस्तवादुच्चमन्दतः।
चित्तजं जप ध्यानमुत्तमम् ॥६॥

उच्च स्वर में स्तुति-पाठ से मन्द स्वर से नाम जपना श्रेष्ठ है।
मन ही मन जप-ध्यान से ही चित्त की एकाग्रता अभीष्ट है॥

स्तुति-पाठ और संकीर्तन द्वारा भक्ति में मन, वाणी और शरीर

तीनों का सहयोग चाहिये और सामूहिक पूजा-उपासना में इसका महत्व है। पर अधिक समय तक वाणी, मन और शरीर में सहयोग हो सकना बहुत कठिन होता है। मन की वृत्ति चंचल होती है, और शरीर एवं वाणी भी थकावट और अवसाद ग्रस्त होने से उनमें स्वाभाविक मन्दता आ जाती है। इसी से जप-ध्यान को शरीर से सम्पन्न होने वाले **षोडश** अथवा **पंचोपचार** पूजन एवं उच्च स्वर से स्तुति-पाठ या कीर्तन से उत्तम कहा है। **नाम जप** तीन प्रकार से होता है **उच्च, मन्द** और **चित्तज**। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। उच्च स्वर से नाम रटने से मन्द या उपांशु जप, जो दूसरों को न सुनाई दे उत्तम माना जाता है और उपांशु जप से मन ही मन ध्यान करना सर्व श्रेष्ठ कहा गया है क्यों कि इस में मन को ही एकाग्र करना पड़ता है इससे सरल भी है।

सगुणात्मक षोडशोपचारादि पूजन 'विधियों' में शरीर की चेष्ठा, वाणी से स्तुति और मन से तत्तत् भावों का संग्रहण अपेक्षित रहता है जो सर्वाधिक कठिन होता है।

जप करने में एक ही नाम या मन्त्र की बारबार पुनरावृत्ति से मन में एकाग्रता आती है। पर कुछ समय बाद आदत सी पड़ने पर वह भंग हो जाती है तब चित्त में कुछ न कुछ असंबंधित विचार स्फुरित होते रहने से जैसी एकाग्रता वांछित होती है, वैसी नहीं मिलती। नाम और नामी में अथवा मन्त्र और उसके अर्थ में संबंध होने से इनके उच्चारण करने में इनकी वृत्ति का मन में उदय होने से मन को एकाग्र करने में सहायता मिलती है। पर जहां मन, वाणी और शरीर तीनों का सहयोग वांछित हो वहां कठिनाई होती है। एक मन का ही जहां संबंध होता है जैसे मानसिक पूजा या जप-ध्यान में वहां मन को साध कर चित्तशुद्धि द्वारा **तन्मयता** प्राप्त की जा सकती है।

(७)

आज्यधारया श्रोतसा समम्।
सरलचिन्तनं विरलतः परम ॥७॥

सतत एक - तार तरल घृतधार या बहती जलधारा सम।
सरल चिन्तन ध्येय से छूटते विरल ध्यान से होता परम॥

जल श्रोतों में या नदियों में जल-प्रवाह में एक निरन्तरता होती है, जिससे जल धारा में एकतारता दिखाई देती है। हम चाहने पर भी अभी बहते पानी और कुछ ही क्षण पूर्व आये पानी में विभाजन रेखा नहीं देख सकते। इसी प्रकार तरल घी या तेल को एक बर्तन से दूसरे में डालते समय घी या तेल की धारा अटूट रहती है। इसी प्रकार का तारल्य इष्ट-ध्यान में अपेक्षित होता है। आध्यात्म में ऐसे अटूट या एक तार ध्यान को **आज्य धारया** या **श्रोतसा समं** विशेषणों से स्पष्ट किया जाता है। पातंजल योग दर्शन में ऐसे ही एकतार अविरल ध्यान को -'**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्**' (योगसूत्र -३/२), अर्थात चित्तवृत्ति के निरन्तर ध्येय में स्थित रह एकाग्र होना, -कहा है। गीता में इसी को '**सतत युक्ता**' (अ. १२/१) कहा है। जप में मन्त्र की आवृति जहां मुख्य होती है, वहीं ध्यान में अखण्ड-वृत्ति से ध्येय को चित्त में धारण मुख्य है। इसी से जप में होने वाले ध्यान को **सरल चिन्तन** कहा गया है। पर ऐसा ध्येय से भटकते रहने वाला **विरल चिन्तन** निम्न श्रेणी का होता है। इसीलिये कबीरदास जी भी कहते हैं, '**माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख मांहि। मनुवां तो चहुं दिसि फिरे, यह तो सुमिरन नांहि॥**'

(८)

भेदभावनात्सोऽमित्यसौ ।
भावनाऽभिदा पावनी मता ॥८॥

परमात्मा - आत्मा में भेद की भावना
धर ध्यान करने में नहीं कुछ इष्टि है।
सोऽहं भावना से ईश-चिन्तन अन्तर की
शुद्धि करता यही श्रुति की दृष्टि है॥

सगुण उपासना में **ध्याता** (ध्यान कर्ता) और **ध्येय** (इष्ट रूप ध्यान का विषय) दोनों भिन्न होते हैं, क्योंकि सामान्यत: उपासक और उपास्य में द्वैत मान्य होता है। पर **निर्गुण** एवं **अद्वैत** उपासना में भेद दृष्टि नहीं होती और उपासक **अहं ब्रह्मास्मि** या **सोऽहं** भावना से उपासना ध्यान करते हैं। इस प्रकार की भेद-भावना रहित उपासना, महर्षि रमण बताते हैं, कि शुद्ध ज्ञान रूप होने से अन्त:करण को पवित्र करती है। इस दृष्टि से अद्वैत एवं निर्गुण उपासना भेद-भावना वाली सगुण उपासना से उत्तम होती है। यहां यह शंका हो सकती है, कि ध्याता जीव जो अल्पज्ञ और अल्प सामर्थ्ययुक्त है कैसे ईश्वर जैसे सर्वज्ञ और सर्व-सामर्थ्यवान के समान माना जा सकता है? पर यह शंका सही नहीं है। जीव में अल्पज्ञता और अल्प सामर्थ्य वास्तविक नहीं है। अविद्या की उपाधि के ही कारण ऐसा आभास होता है। गोस्वामी जी इसे स्पष्ट कर कहते हैं, -**'ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥ सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं। जड़ चेनतहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई ॥ तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होय सुखारी।'** (रा.च.मा.उ.कां.) आत्मज्ञान पाने पर यह आत्मा जीव का द्वैत नष्ट हो जाता है ।

जैसे समुद्र में छोटी-बड़ी अनेक लहरें उठती और लय होती रहती हैं। पर तात्विक दृष्टि से सभी जल रूप में समुद्र का ही अंश होती हैं। उसी प्रकार 'ईश्वर' अंश होने से जीव ईश्वर से भिन्न नहीं है और **सोऽहं** भावना से यह भेद दृष्टि नहीं रहती। इसी से इस प्रकार का ध्यान उत्तम कहा है। ईश्वर को सगुण दृष्टि से सृष्टि के कर्ता-भर्ता-हर्ता मानकर, और स्वयं को सृष्टि के अंग रूप से ईश्वर की कृति मानकर किया गया ध्यान द्वन्दात्मक और भेद-भावना युक्त होने से असत् ही है।

(६)

भाव शून्यसद्भावसुस्थितिः।
भावनाबलाद्भक्तिरुत्तमा ॥६॥

निर्विचार बना कर मन को आत्मा में स्थिति हो जाती।
इसी कैवल्य दशा में पराभक्ति की सिद्धि हो जाती॥

मन में **सोऽहं** की अभेद भावना करने के दीर्घकालिक अभ्यास से मन धीरे-धीरे निर्विचार बनकर अन्तर्मुखी हो भावना शून्य अवस्था प्राप्त कर लेता है जो समाधि के पूर्व की स्थिति कही जाती है। आत्मोन्मुख होकर साधक का अन्तःकरण अविद्या के नष्ट होने से शुद्ध हो जाता है। यही कैवल्य स्थिति भक्ति की परा अवस्था **परा-भक्ति भी** कही जाती है। योग दर्शन में इसे **कैवल्य** दशा कहा गया है। -**'सत्व पुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यम्'** (सूत्र - ३/५४) इस स्थिति में अन्तःकरण और पुरुष (जीवात्मा) की समान रूप से शुद्धि हो जाती है। तथा - **'तद्भावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशे कैवल्यम्'** (सूत्र -२/२५), (अविद्या के न रहने से उससे उपजे संयोग भी नष्ट होकर जन्म-मृत्यु के बन्धन भी नष्ट हो जाते हैं)

संक्षेप में कहा जाय, तो अन्तःकरण में **सोऽहं** (मैं निर्विकार सत हूं) की भावना रखने से अन्य भावों का बाध हो जाता है, सोऽहं भाव पुष्ट होता रहता है, जिससे अन्तःकरण अपने सच्चिदानन्द स्वरूप (आत्मा) में रम जाता है। इसी आत्मज्ञान युक्त परा भक्ति को महर्षि रमण **उत्तमाभक्ति** कहते हैं।

(१०)

हृत्स्थले मनः स्वस्थताक्रिया ।
भक्तियोग बोधाश्च विनिश्चितम् ॥१०॥

आत्मा को निज सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित जिससे पाते।
कर्म-भक्ति-ज्ञान के योगों का एक मात्र लक्ष्य यही कहलाते।

कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा अष्टांग योग सभी साधनाऐं साधक को परमात्मा से **'योग दिलाने'** (मिलाने) के ही भिन्न-भिन्न मार्ग हैं जिनका एक ही लक्ष्य है, - परमात्मा से योग। व्यष्टि में जीव स्वयं को कर्ता, भोक्ता और बद्ध होने के मोह रूप भ्रांति के अज्ञान से ग्रस्त हो संसृति कष्ट भोगता है। **सोऽहं** और **अहं ब्रह्मास्मि** का बोध उसे समष्टि रूप नित्य शुद्ध निर्विकार एवं सर्वव्यापी ईश्वर का अंश होने का तत्त्व बताता है जिसे 'तुलसी' वचन - **'जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई'** के अनुसार अन्तःकरण, आत्मा के चिद् रूप में स्थित हो परमानन्द पाता है।

ऐसी स्थिति में आत्मज्ञान द्वारा सारा राग-द्वेषादि द्वन्दों रूप अज्ञान कलुष नष्ट होकर आत्मानन्द की अनुभूति होती है। इन्द्रियों के विषय-सुख क्षुद्र प्रतीत होते हैं। गीता में इसी स्थिति को **स्थित प्रज्ञ** कहा है क्योंकि तब अन्तःकरण आत्मा के चिद् रूप ज्ञान में स्थित हो जाता है।

गीता इसी स्थिति का वर्णन कर कहती है, -**'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन। आत्मवश्वैविधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।। प्रसादे सर्वदु:खाना हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसोह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।'** (गीता-**२/६४, ६५**) (वह नियंत्रित अन्त:करण वाला पुरुष राग द्वेष से रहित हुवे अपनी इन्द्रियों द्वारा सांसारिक भोगों में रहता हुवा भी अन्त:करण में आत्मानन्द का अनुभव करता है। जिससे उसके समस्त दु:खों का निवारण हो जाता है। और उसकी बुद्धि सुस्थिर हो जाती है।) गीता और पातंजल योग दर्शन में इसी स्थिति को **समाधि** कहा है,- **'निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद:'** (समाधि पाद - **४७**) (निर्विचार अवस्था में चित्त के निर्मल होने से योगी को अन्त:करण में अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है।) ऐसी दशा प्राप्त होने पर उसकी, बुद्धि **सत्** युक्त हो जाने से 'ऋतम्भरा' कही जाती है। **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'** (समाधि पाद - **४८**)। गीता इसी स्थिति के विषय में कहती हैं, **'सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति तत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वत:।'** (गीता-**६/२१**) (तत्त्वज्ञान में स्थित हुवा योगी उस काल में आत्मा के इन्द्रियातीत परमानन्द को अपनी शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करता है।)

(११)

वायुरोधनाल्लीयते मन: ।
जालपक्षिवद्रोधसाधनम् ।।११ ।।

प्राणायाम ही मन को एकाग्र बना जकड़ पाता।
यही जाल समान मन - पक्षी को पकड़ पाता।।

हमारा मन साधारणतया सांसारिक विषयों के बीच भटकता रहता है और कभी स्थिर नहीं रहता। प्राणायाम ही मन की भाग दौड़ को रोक कर उसे स्थिर करने का सरल उपाय है। यह **अष्टांग योग** के पांच बहिरंग साधनों में चौथा है, (यम, नियम, आसन, **प्राणायाम,** प्रत्याहार, (इन्द्रिय निग्रह)) और तीनों सूक्ष्म आन्तरिक संयमों (धारणा, ध्यान तथा समाधि) की प्राप्ति का आधार है। यहां महर्षि रमण प्राणायाम को मनोनिग्रह का सरल उपाय, जाल में पकड़े गये पक्षी के दृष्टान्त से बतलाते हैं। प्राण निरन्तर मन के साथ जुड़ा रहता है, यह नित्य के अनुभवों द्वारा जाना जा सकता है। जब मन किसी कारण उद्विग्न होता है श्वास प्रश्वास रूप प्राणक्रिया भी तीव्र हो जाती है और चित्त शान्त होने पर श्वसन सामान्य हो जाता है। दूसरी और हमारा मन अपने संकल्पों-विकल्पों द्वारा जीवात्मा से संश्लिष्ट रहता है। आत्म रति के लिये मन को नियमित कर अन्तर्मुखी करना आवश्यक है। जैसे जाल से पक्षी को पकड़ा जाता है उसी प्रकार प्राणायाम से मन भी पकड़ में आकर शान्त हो जाता है। पर जैसे जाल खुलने पर पक्षी फिर स्वच्छन्द हो कर उड़ सकता है उसी प्रकार मन भी प्राणायाम छूटने पर फिर स्वच्छन्द हो जाता है इसीसे बार-बार प्राणायाम का अभ्यास होने से शनैः शनैः मनोवृत्तियों का निग्रह हो जाता है। पातंजल योग सूत्र (साधन पाद - ४८) में इसे -**'श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः'** रूप से परिभाषित किया गया है।

योगशास्त्र में इसे चार प्रकार का बताया गया है, -**'बाह्य, अभ्यन्तर, स्तम्भन,** और अनायास होने वाला **बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी।** यही स्वाभाविक विषयाक्षेपी प्राण को नियमन द्वारा मन को स्थिर बनाने में मदद करता है। **शिव स्वरोदय** में इसे **पूरक, कुम्भक** और **रेचक** क्रियाओं द्वारा देह-शुद्धि करने वाला कहा गया है। **'पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकश्च तृतीयकः। ज्ञातव्यो योगिभिनित्यं देह संशुद्धि हेतवे।।'** (शिव.स्व. **३७६**)। यौगिक प्राणायाम में पूरक (सांस भरना), कुम्भक (सांस रोकना),

और रेचक (सांस छोड़ना), इन तीनों का समयानुपात साधारणत: १:४:२ होता है और धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा क्रमश: १:८:२ और १:१६:२ तक किया जा सकता है, जिससे मन अच्छी तरह एकाग्रता पा सके।

प्राणायाम की अन्य मनोनिरोधक विधि **प्राणवीक्षण** भी है। इसमें अपनी श्वास-प्रश्वास क्रिया को दृष्टाभाव से साक्षी रूप में लगातार निरीक्षण करने से मन शीघ्र शान्त होकर अपने ध्येय में लीन हो जाता है।

(१२)

चित्तवायवशिचत्क्रियायुता :।
शारवयोर्द्वयी शक्तिमूलका ॥१२॥

मन में ज्ञान-शक्ति और प्राण में क्रिया शक्ति जो स्थित होती।
वह प्रकृति के सत और रज शाखों से ही पोषित होती॥

मन और प्राण दोनों ही शरीर में जीवात्मा की सापेक्षिप अभिव्यक्ति हैं जो चेतनताके रूप में अनुभूत होती रहती है। त्रिगुणात्मक प्रकृति ही परमात्मा की मूल शक्ति के रूप में संसार में व्याप्त हो कर सभी कार्यों का संचालन करती है। जड़ प्रकृति के विकार होने के कारण मन और प्राण दोनों जड़ होते हैं। मन के व्यापार से हमें जगत और अपनी देह का ज्ञान होता है। यह जगत जैसा हमें प्रतीत होता है वह मन की ही दशा के अनुसार होता है। मन की यह **ज्ञानशक्ति** प्रकृति के पंचमहाभूतों के सम्मिलित **सत्व** गुणों से होती है। प्राणोंकी क्रियाशक्ति भी प्रकृति के पंचमहाभूतों के सम्मिलित **रज** गुणों से होती है। इसी से यहां इनको प्रकृति के **शाखयोर्द्वयी** कहा गया है। हमारे स्थूल शरीर (अन्नमय कोष) के भीतर प्राणमय कोष में प्राण और उसके भीतर मनोमय कोष में स्थित मन आत्मा के चेतन प्रकाश को सूक्ष्म विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोशों के मार्फत पाते हैं। जिससे ये जड़ होने पर भी चैतन्य से प्रतीत होते हैं और

कर्म की सामर्थ्य रखते हैं। पर दोनों में भिन्नता होती है। **प्राण** में रजोगुण होने से **क्रियाशक्ति** होती है पर ज्ञान नहीं, **मन** में सत्व गुण के कारण **ज्ञानशक्ति** होती है पर क्रिया नहीं। गीता में तीनों गुणों की विवेचना में कहा है -**'सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत'**, तथा **'सत्वात्सञ्जायते ज्ञानं....'** इत्यादि। प्रकृति-जन्य इन दोनों शक्तियों का परस्पर घनिष्ठ संबंध होता है। काम, क्रोध, भय जैसी भावना के विकारों के प्रभाव से मन में उद्विग्नता और क्षोभ उत्पन्न होता हैं। जिससे प्राणक्रिया का वेग बढ़ जाता है और श्वासोच्छ्वास ज्यादा ऊष्ण हो जाता है। पर मन के स्थिर और संयत होने पर श्वास-प्रश्वास सामान्य रूप में आ जाता है।

(१३)

लयविनाशने उभयरोधने।
लयगतं पुनर्भवति नो मृतम् ॥१३॥

मन का लय और मनोनाश प्राणायाम और
मन - निरोधन से सध जाता।
लय हुवा मन पुनः सक्रिय होता पर
मनोनाश हो विषयों में न जाता ॥

विद्यारण्य मुनि पंचदशी में कहते हैं, - **'मायावृत्यात्मकोहीशसंकल्पः साधनं जगौ। मनोवृत्यात्मको जीव संकल्पो भोग साधनम्'**॥ (द्वैत विवेक प्रकरण - १६), अर्थात जब ईश्वर मायावृत्यात्मक संकल्प करता है तब यह जगत प्रकट होता है, और जब जीव मनोवृत्तियों के रूप से संकल्प करता है तब यही उसका भोग्य होता है। इस प्रकार माया रूप अज्ञान से सृष्ट जगत का आविर्भाव होता और उसी माया की तृष्णा, लोभ, मोह, काम, क्रोध मात्सर्यादि भावों से

युक्त हुवा मन **निम्न मन** कहा जाता है। निम्न मन ही अशुचि और जीव के लिये बन्धन कारक बनता है। दूसरा **उच्च मन** जिज्ञासु और सत्संकल्पवान् होता है जो आध्यात्मिक चेतना की उन्नति द्वारा मुक्ति मार्ग प्रशस्त कराता है। हमारे निम्नमन में ही आसक्ति अपने चिह्न रूप **संस्कार** छोड़ जाती है जो हमारी प्रवृत्तियों को प्रभावित करते हैं और चरित्र का अंग बन जाते हैं, इसी लिये **मनोलय** (निग्रह) और **मनोनाश** की आवश्यकता प्रतीत होती है। ये दोनों निम्न मन से ही संबंध रखते हैं। जैसा अन्तर निद्रालीन होने और मृत्यु में है वैसा ही मनोलय और मनोनाश में समझा जा सकता है। प्राणनिरोध (प्राणायाम) से प्राप्त मनोलय स्थायी नहीं होता और मन पूर्ववत सक्रिय हो जाता है। पर सतत चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा नष्ट हुवा मन **अन्तर्मुखी** होकर फिर विषयानुवर्ती नहीं होता और उच्चमन में समाहित हो जाता है। मनोनाश की दशा में ही जीव अपने स्वरूप के अज्ञान से विलग होकर आत्माभिमुख होता है और स्थितप्रज्ञ हो जीवन्मुक्त की भांति रहता है।

(१४)

प्राणबन्धनाल्लीनमानसम्।
एकचिन्तनान्नाश मेत्यदः॥१४॥

प्राणायाम में लीन हुआ मन भी देखता है अन्दर ही।
निरन्तर अद्वैत आत्मा के ध्यान से फिर न होता बहिर्मुखी॥

पूरक, कुम्भक, रेचक युक्त **श्रेणीबद्ध प्राणायाम** या साक्षी रूप से श्वास-प्रश्वास का ध्यान से **प्राणवीक्षण** कर मन का लय संभव होता

है। इस प्रकार शान्त किये हुवे मन में **सोऽहं** (मैं परम चैतन्य ही हूं) विचार करने से मन अन्तर्मुखी होता हुवा धीरे-धीरे आत्मरत हो जाता है। यही मनोनाश की दशा है, मन अद्वैत (आत्मा अथवा परमात्मा) के चिन्तन से ही, यह स्थिति प्राप्त करता है। क्योंकि विविध सांसारिक पदार्थों के चिन्तन से उनके गुणों के विचारों में लीन होकर उनके प्रति राग-विराग, लाभ-हानि के भावों से प्रेरित हुवा मन सुख-दुःख का अनुभव करता है। अतः द्वैत का चिन्तन ही तृष्णा को जन्म देकर दुःख देता है।

मनोनिग्रह और मनोनाश मन के साथ लड़ने या उसे हठपूर्वक भटकने से रोकने से संभव नहीं होता, इससे मन अधिक उच्छृंखल हो जाता है, और बारबार विषयों की ओर जाता है।

मनोनिग्रह के लिये आवश्यक है-

(१) जीवन को सादा और सरल बना अपनी आवश्यकताओं को कम करना। इससे पदार्थों के प्रति तृष्णा नहीं रहती और विराग भावना से मन सूक्ष्मतर बन जाता है।

(२) विषयों से हटाने के लिये मन को अन्तर्मुखी बनाने का यथासंभव प्रयास। इन्द्रियों का स्वामी होने से, ऐसे मन द्वारा इन्द्रियां भी विषयोन्मुख न हो सकेंगी।

(३) मन में दूषित विचार या दुर्वासना आने पर अपनी संकल्प शक्ति के प्रयोग करने के बजाय उदासीन होकर वीक्षण करना उचित है। इससे दुर्भावनाऐं स्वयंमेव लुप्त हो जायेंगी। तब संकल्पशक्ति से मन को अन्तर्मुखी करने में सहायता ली जा सकती है।

(१५)

नष्टमानसोत्कृष्टयोगिनः।
कृत्यमस्ति किं स्वस्थितिं यतः॥१५॥

मनोनाश पाये उत्कृष्ट योगी को कर्म नहीं कोई करना होता।
आत्मरत निज स्वरूप में स्थित उसे अब क्या पाना होता।।

मन वासनाओं का ही संग्रह है, मनुष्य अपने पूर्ण सत्, चिद्, आनन्द स्वरूप के अज्ञान के कारण ही वासनाओं में रमा रहता है। और अपने को अपूर्ण अज्ञानी और दु:खी मान उन वासनाओं की पूर्ति से पूर्णता और शाश्वत सुख पाने की मिथ्या चेष्ठा से प्रेरित होकर कर्म करता है। पर जब मनोनाश होने से वासनाओं और अज्ञान के नष्ट होने से उसे आत्मा के परमानन्द का आस्वाद मिलता है तब वह क्या पाने के लिये कर्म करे? इस अवस्था में उसके कर्म वासना और स्वार्थ प्रेरित न हो लोकसंग्रहण और परोपकार के होते है, उसके निष्कलुष मन के **'सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद दु:खभाग्भवेत्।'** रूप सद्भाव से प्रेरित होते हैं। जब **'मैं आनन्द स्वरूप ही हूं'** का बोध मन में पनप जाता है तब संसार के विषय निरर्थक हो जाते हैं। योगी की ऐसी स्थिति के विषय में मुण्डकोपनिषद में कहा है, **'भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्चिद्यन्ते सर्व संशया:। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिनदृष्टे परावरे।।'** (मुण्डक उप.-२/२/८), (उस परात्पर ब्रह्म स्वरूप आत्मा के दर्शन से उसके अन्त:करण की अविद्या ग्रन्थि खुल जाती है और सारे संशय नष्ट हो जाते हैं। और उसके कर्माशय नष्ट हो जाते हैं।) गीता भी कहती हैं, **'प्रशान्त मनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्। उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्'** (गीता-६/२७) (पूर्णत: शान्ति प्राप्त ऐसा योगी परमानन्द का अनुभव करता है और वह रजो गुण रहित योगी निष्पाप हो जाने से ब्रह्मसायुज्य प्राप्त करता है।) सामान्य संसारी ऐसे आत्मसुख के अनुभव से अपने जीव भाव के अज्ञान और देह धर्म के कारणों से वंचित

रहता है। बृहदारण्यक उपनिषद (२/१/१८) इस आत्मसुख का वर्णन कर कहता है, -**'स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीत एनमेवैष एतच्छेते'**। (जैसे एक बच्चा पेटभर दूध पीकर मुग्ध दशा में, सोता हुवा सुख मूर्ति बना रहता है, राजा अन्त:करण शुद्ध न होने पर भी राज सुख पाकर और वासनापूर्ति होने पर वह भी सुख मूर्ति बना रहता है, ब्रह्मज्ञानी ज्ञान पाकर कृतकृत्यता अनुभव कर सुख मूर्ति होता है और साधारण मनुष्य भी गहरी निद्रा में सुख अनुभव करते हैं।) विद्यारण्य मुनि भी पंचदशी में कहते हैं, -**'मुग्धबुद्धातिबुद्धानां लोके सिद्धा सुखात्मता। उदाहृतानामन्ये तु दु:खिनो न सुखात्मका:।'** (पंचदशी - ब्रह्मानन्द योगानन्द प्रकरण - ५३) (संसार में तीन ही को केवल अन्त:करण की शान्ति प्राप्ति होती है, मुग्ध (जिनमें विवेक नहीं होता), बुद्ध (जिनमें कुछ विवेक होता है) और अति ज्ञानी जैसे आत्मदर्शी तत्वज्ञानी। इन तीनों के सिवाय सभी लोग राग द्वेषादि विकारों के कारण दु:खी रहते हैं और सुख नहीं पाते।

(१६)

दृष्यवारितं चित्तमात्मन: ।
चित्तत्त्वदर्शनं तत्त्वदर्शनम् ॥१६॥

सांसारिक विषयों का मन से कर वर्जन
सतत तत्त्वज्ञान का अंतर में कर अर्जन ।
चित्त में चेतन प्रकाश का पाकर दर्शन
तब हो संभव आत्मा का सत् चिद् दर्शन॥

संसार के असंख्य पदार्थ हमारी इन्द्रियों के विषय होते हैं और देखे, सुने, सूंघे, चखे, छुवे जाने से मन को उनका अनुभव कराते हैं। पर इनकी वास्तविक ज्ञाता हमारी चेतनात्मा ही है जो साक्षी भाव से, चित्त के इन बदलते रहनेवाले विषयों को देखती है , एक ही निर्विकार बनी आत्मा। विषयों में रमते हुवे हमारा ध्यान इनकी द्रष्टा **स्वयं** पर कभी नहीं जाता। विषय चिन्तन से मन को हटाकर **'मैं चैतन्य रूप द्रष्टा हूं'** की वृत्ति मन में धरने से विषयों से निवृत्ति होकर चित्त आत्माभिमुख होता है। यही **तत्त्वदर्शन** कहा गया है।

संसार के असंख्य पदार्थों में से हमारा लगाव उन्हीं से होता है जो वासनारूप से हमारे मन में रहते हैं। किसी पदार्थ की वासना करने पर मन उन्हीं पदार्थों का रूप धर लेता है और आंखें बन्द कर लेने पर भी हमें वे पदार्थ दृष्टिगोचर रहते हैं। इस प्रकार संसार में हमारा व्यवहार **मनोमय** पदार्थों से ही होता है। जागृति या स्वप्न में जब हम कोई पदार्थ जैसे घड़ा देखते हैं, तो हमारी दृष्टि में दो वस्तुऐं होती हैं, एक 'मिट्टी से बना घड़ा' और दूसरा 'मनोमय घड़ा'। **मिट्टी का घड़ा** प्रमाणों से जाना जा सकता है पर **मनोमय घड़ा** प्रमाणों से ज्ञात नहीं होता यह मन की वासनाओं के बीच छिपा हुवा हमारी साक्षी रूप चेतनात्मा द्वारा ही प्रकाशित होता है। सुषुप्ति, मूर्छा या समाधि की अवस्था में मनोमय पदार्थों के न रहने से हमें सुख-दुःख, लोभ-मोह, राग-द्वेष नहीं व्यापते क्योंकि मनोमय पदार्थ ही क्लेषों के कारण होते है। इसी मानसिक द्वैत को दूर करने हेतु **योग** और **ज्ञान** की उपादेयता होती है। योग में मनोनिरोध द्वारा मानसिक पदार्थों की सृष्टि होना बन्द होता है, और आत्म-तत्त्व के ज्ञान से मानसिक द्वैत आमूलचूल नष्ट हो जाता है।

अद्वैत- तत्त्व तभी जाना जा सकता है जब उसका विरोधी द्वैत दृष्टिगत होता है। ईश्वर निर्मित द्वैत, ज्ञान की बाधा नहीं है, वरन् अद्वैत के ज्ञान प्राप्ति में सहायता देता है। इनसे द्वेष करने के बजाय राग को छोड़ना ही अधिक श्रेयस्कर है। **जैसे मानसिक द्वैत में राग बन्धन कारी बनता है, वैसे ही ईश्वर-कृत द्वैत (जगत) से द्वेष करना भी स्वयं में एक बन्धन ही है।**

आत्मा और ब्रह्म जीव के शास्त्रीय द्वैत हैं, जिसका निवारण तत्त्वज्ञान पाने से होता है। पर काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि मन के अशास्त्रीय द्वैत हैं। इनका योग-साधनों से निवारण किये विना तत्त्व-ज्ञान प्राप्ति संभव ही नहीं होती। **जिस ज्ञान के पाने पर काम, क्रोध, राग, द्वेषादि निवृत्त न हों और आचरण व्यवहार शुद्ध न हो वह ज्ञान किस काम का?**

(१७)

मानसं तु किं मार्गणे कृते ।
नैव मानसं मार्ग आर्जवात् ॥१७॥

'मन क्या है?' - सतत विचारण से ऐसे
अमन हो जाता मन तरंग टूटकर बह जाये जैसे।
अज्ञान आवरण हटे तत्त्व - दर्शन पा जाये ऐसे
आत्म-ज्ञान का सरलतम मार्ग मिल जाये ऐसे॥

जैसे समुद्र जल की असंख्य छोटी बड़ी तरङ्गों का समूह है उसी प्रकार मन हमारे निरन्तर स्फुरित होते विलीन होते अनगिनत विचारों और वासनाओं का ही आकर है। जैसे जलाशय में एक कंकड़ डालने से एक के

बाद दूसरी अनेकों जल-तरङ्गें उदय हो कर तालाब में फैल जाती हैं, उसी प्रकार किसी विक्षेप से मन में विचार तरङ्गें उदय होकर मन के आकार को बढ़ाकर उद्वेलित करती हैं। यह मन ही हमारे शरीर और आत्मा के बीच एक दीवार की तरह रहता है जिसे तोड़े बिना आत्म-दर्शन नहीं सभंव होता। आत्मज्ञान की इसी कठिनाई के निवारण के लिये महर्षि सरलतम मार्ग बताते हैं, कि मन क्या है? चिन्तन से मन स्वतः लुप्त हो जाता है, तब इसे शान्त करने का झंझट ही नहीं रहता। जैसे रात्रि के अन्धकार में मार्ग में पड़ा रस्सी का टुकड़ा सांप ज्ञात होने पर भयभीत हो कोई लाठी लेने को भागता है। पर जब उसे यह ज्ञात होता है कि **यह सांप नहीं रस्सी है,** तब **'न सांप मरे न लाठी टूटे'** चरितार्थ होकर समस्या स्वतः सुलझ जाती है। इसी प्रकार जब जिज्ञासा की जाती है कि **हमारा अनुभवित होने वाला मन सत् है या असत्** तब यह आवश्यक हो जाता है कि सत की परिभाषा क्या है? सत्-साधु, पवित्र, श्रेणी एवं सदा निर्विकार रहनेवाले सत्य रूप तत्त्व के लिये प्रयुक्त होता है, असत्-इसके विपरीत असाधु, अपवित्र, विकृतिवाले अस्थाई अथवा मरणधर्मा पदार्थों के लिये प्रयोग होता है। उपनिषदीय आत्मोन्नति की प्रार्थना **अभ्यारोह मन्त्र-'असतो मा सद्गमयः, तमसो मा ज्योतिर्गमयः, मृत्योर्मामृतं गमय'** के अनुसार अन्धकार, अज्ञान, मृत्यु असत के पर्याय हैं और प्रकाश, ज्ञान, अमृतत्व सत के प्रतीक हैं। शास्त्र वचन **'कालत्रयेपितिष्ठति इति सत्'** के अनुसार भी जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य में बिना विकृति के स्थित रहता है वही सत है। इसी प्रकार से गीता भी बतलाती है, -**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिमिः।।'** (गीता-२/१६) (असत् का तो अस्तित्व ही नहीं होता और सत् का अभाव किसी काल में नहीं होता है।) इस प्रकार चिरंतन परमात्मा आत्मा सत् है और जीव-देहादि मरण-धर्मी सांसारिक पदार्थ तथा अदृष्य शश-श्रृङ्गादि असत हैं। मन के परिवर्तनशील, और क्षणिक भावों, काम,

क्रोध, मोह लोभ, राग, द्वेष युक्त होने के कारण यह सत् कदापि नहीं कहा जा सकता है। तब यह हमारे सदा अनुभव में आने वाला अन्त:करण का महत्त्वपूर्ण अंग असत् भी कैसे कहा जा सकता है। जो वस्तु रज्जु के सर्प की तरह सत भी नहीं होती और असत् भी नहीं - **मायिक** या **भ्रान्ति** कही जाती है। ऐसी वस्तु असत होने पर भी इन्द्रजाल की भांति अनुभूत होती है। रज्जु का सर्प भी असत नहीं है क्योंकि यह हमें भयभीत करता है। पर जब हम रज्जु के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हैं तब वह सर्प विलीन हो जाता है और रज्जु अपने स्वरूप में लक्षित होता है। इसी प्रकार मन के विषय में जिज्ञासा करने पर आत्मज्ञान से मनोनाश हो जाता है।

(१८)

वृत्तयस्त्वहंवृत्तिमाश्रिता: ।
वृत्तयो मनो विद्ध्यहं मन: ॥१८॥

अहं इदं रूप वृत्ति - द्वय अन्तर में उगती
अहं वृत्ति है ज्ञान रूप इदं पदार्थों में रमती।
मन ही है इदं वृत्ति जो विषय - भोग करती
विज्ञान मय अहं वृत्ति ही इसका आश्रय बनती।।

संकल्प विकल्पात्मक वृत्तियों का प्रवाह ही मन कहलाता है। अन्त:करण की सभी वृत्तियों का संबंध इन्द्रिय अनुभूत विषयों एवं मन के आवेगों से होता है। प्रत्येक वृत्ति का किसी न किसी विषय से अवश्य सम्बन्ध रहता है। ये दो प्रकार की कही गयी हैं, एक **बीज रूप** छिपी हुवी **अहं वृत्ति** और दूसरी व्यक्त होने वाली **इदं वृत्ति** । अहं वृत्ति विज्ञानमय होने से बुद्धि कहलाती है और **इदं वृत्ति** मन। विद्यारण्य मुनि पञ्चदशी में बतलाते हैं -'**अहंवृत्तिरिदंवृत्तिरित्यन्त:करण द्विधा। विज्ञानंस्यादहंवृत्तिरिदंवृत्तिर्मनो भवेत।। अहं प्रत्यय बीजस्त्वमिदं**

वृत्तेरिति स्फुटम्। अविदित्वास्वभात्मानं बाह्यं वेत्ति न तु क्वचित् '।। (चित्रदीप प्र. ७०, ७१) । अर्थात् अहंवृत्ति और इदंवृत्ति के भेद से अन्त:करण दो प्रकार का होता है जो क्रमशः बुद्धि और मन कहलाते हैं। बीज रूप अहं के ज्ञान के कारण से इदं वृत्ति प्रस्फुटित होती है। इसी से स्वयं के ज्ञान के बिना किसी बाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। इन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध है। वृत्तियों के अनेक होने पर भी ज्ञाता एक ही होने से एक अहंवृत्ति उन सभी इदं वृत्तियों का आधार होती है।

अहंवृत्ति उदय और अस्त होती रहती है और इस प्रकार क्षणिक होने पर भी यह **स्वयं प्रकाश** बुद्धि रूप ज्ञान है जो आत्मा के प्रकाश से विज्ञानमय कोश में स्फुरित होता है।

(१६)

अहमयं कुतो भवति चिन्वतः ।
अयि पतत्यहं निजविचारणम् ॥१६॥

अहंभाव यह उपजता कहां से
निरन्तर यही विचारण कर के।
टूटकर अहंकार स्वयमेव विनसे
आत्मविचार क्रिया हो जाती ऐसे।।

उपरोक्त अन्त:करण की **अहंवृत्ति** सामान्यत: अहंकार के रूप में उदय होती रहती है। यही योग शास्त्र में अस्मिता कहा गया है जो क्लेश बन कर जीव को संसार चक्र में घुमाती है। यही तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति से विलय होकर आत्म बोध के रूप में उदय हो जीव के लिये मुक्ति दायिनी हो जाती है। अस्मिता को पंच क्लेशों में बताते हुवे योग दर्शन में कहा हैं- '**अविद्यास्मितारागद्वेषाअभिनिवेशाः क्लेशाः।**' (यो.सू. सा. २/३) (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश (मृत्युभय) ये पांच विपर्यय

ज्ञान रूप क्लेश हैं।) इसी अस्मिता के स्वरूप को बतलाते हुवे महर्षि पातंजलि कहते हैं, - **'दृगदर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।'** (दृक् शक्ति और दर्शन शक्ति की एकात्मता, अर्थात एक ही होने का बोध होना ही अस्मिता है।) - हमारी आत्मा अपनी चिद् शक्ति से द्रष्टा रूप रहती है। यही इसलिये हमारी **दृक् शक्ति** कहलाती है। इसी चेतन दृक्शक्ति के प्रकाश से जड़ विज्ञानमय कोष (बुद्धि) प्रकाशित होता है। जो हमारी दर्शन शक्ति के रूप में आभासित होता रहता है। वास्तव में द्रष्टा पुरुष (आत्मा) सर्वथा शुद्ध निर्विकार और असङ्ग है तथापि बुद्धि के संबंध से बुद्धिवृत्ति के अनुरूप होने से यह द्रष्टा कहलाती है, तथा अविद्या से ही इसका प्रकृति से अनादि सम्बन्ध माना जाता है। जब तक अविद्या के नाश से यह प्रकृति से अलग अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में नहीं स्थित होती, यह बुद्धि के साथ एकाकार सी हुवी बुद्धि की वृत्तियों का द्रष्टा रहती है। पर अविद्या नष्ट होने पर यह 'कैवल्य' की अवस्था प्राप्त कर प्रकृति से असंग अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है। शंकराचार्य जी विवेक चूड़ामणि में कहते हैं, - **'अहंकारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते। चन्द्रवद्विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयंप्रभः।'** (वि.चू.-३००), (जैसे चन्द्रमा राहु द्वारा ग्रसित होने से कान्तिहीन हो जाता है और अपना स्वरूप खो देता है, उसी प्रकार अहंकार के ग्रहण से ग्रस्त आत्मा भी अपना स्वरूप खो देती है और अहंकार से मुक्त होने पर अपने सच्चिदानन्द स्वरूप से आभासित होती है।)

प्रकृति-विकृति रूप होने से अहंकार त्रिगुणात्मक होता है। **सत्व अहंकार** हमारी चेतना के संप्रज्ञान के रूप में स्वाभाविक रूप से हमें अपने देहादि का आभास देता हुवा स्थित होता है। **रजहंकार** कर्तृत्व अभिमान रूप होता है और जीव के बन्धन का कारण बनता है। **तमोहंकार** मद, मोह, मात्सर्य, राग, द्वेषादि दुर्भावनाओं का पोषक होने से अध:पतन कारी होता है। अभिमान ही अहंकार का लक्षण होता है, जिसमें मन,

इन्द्रिय, और शब्द स्पर्शादि पांच तन्मात्राओं का सहयोग होता है। अतः यह अहं मन एवं बुद्धि के विषयों को ग्रहण करता है। आत्मचिन्तन से ही इसका निवारण होता है। महर्षि इस श्लोक में 'मैं' कौन जिज्ञासा से आत्मा के बोध की विधि बतलाते हैं।

(२०)

अहमि नाशभाज्यहमहंतया ।
स्फुरति हृत्स्वयं परमपूर्णसत् ॥२०॥

आत्म-विचार से नाश हो अविद्या - मूल अहंकार जब।
नित्य पूर्ण सच्चिदानन्द आत्मा 'अहं' रूप स्फुरित हो तब॥

हमारी आत्मा अहर्निश **अहं-अहं** के स्पन्दन से अपने अस्तित्व का भान सदा कराती रहती है। यही हमें समय-समय पर कर्तव्य-प्रेरणा के रूप से अन्तर्ज्ञान भी देती तथा सन्मार्ग का निर्देश करती है। पर अपने अंतर में स्थित विपर्यय ज्ञान से उपजे अहंकार के कारण हम अपनी आत्मा की वाणी नहीं सुन पाते या सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं। अहंकार नष्ट होने पर ही आत्मा के सद्घोष की प्रतीति होती है। आत्मा नित्य सत्-रूप तथा देश कालादि के बन्धनों से सर्वथा मुक्त है पर अहंकार जड़ और देश, काल से मर्यादित होता है। इसके नष्ट होने पर ही आत्मा का स्वरूप अपरिच्छिन्न होकर स्फुरित होता है।

(२१)

इदमहं पदाऽभिख्यमन्वहम् ।
अहमि लीनकेऽप्यलयसत्तया ॥२१॥

सुषुप्ति में जब अहंकार लय हो
अहं रूप आत्मा प्रकट रहे तभी।
हमें निज अन्तर के अनिर्वचनीय
परमानन्द का आस्वाद मिले तभी।।

एक अहं शुद्ध चैतन्य का आभास कराता है और दूसरा जड़ शरीर और सांसारिक पदार्थों से तादात्म्य करने से अहंकार का रूप धरता है। यही सुषुप्ति की दशा में लय को प्राप्त हो जाता है। पर चैतन्य आत्मा सदा जागृत रह, अन्त:करण को प्रकाशित करती रहती है। इसी से सुषुप्ति में हमें आत्मानन्द का आस्वाद मिलता है।

अहंकार के वशीभूत हो जब मनुष्य अपने शरीर को ही सब कुछ मानते हैं, वे महा स्वार्थी बन जाते हैं। लेकिन उनकी यही अहं भावना व्यापक होकर क्रमश: परिवार, समाज और राष्ट्र के साथ तादात्म्य करती है। व्यक्तिगत स्वार्थ क्रमश: घटते हुवे, अहंकार-वृत्ति समाज एवं राष्ट्र प्रेम के रूप से रूपान्तरित होकर उपयोगी बन जाती है, पर एक सीमा तक ही। क्योंकि, चाहे कितनी ही व्यापक यह अहं-वृत्ति हो जाय, जीव सारे विश्व या ब्रह्माण्ड के साथ तादात्म्य नहीं कर सकता। **सारी दृष्टि के साथ अहंबुद्धि रखने वाला ईश्वर कहलाता है।** इसी से ईश्वर पक्षपात रहित, सबका अपना और स्वार्थरहित होता है। यही ईश्वरीय अहंकार **समष्टि अहं** कहलाता है, तथा सामान्य व्यक्तिगत अहंकार **व्यष्टि अहं** होता है। जैसे जल ही अलग अलग दशाओं में कभी **लहर** कहलाता है, और कभी **समुद्र** इसी प्रकार अहंकार भी व्यष्टि और समष्टि रूप पाता है। इसी से यहां आत्मा के लिये पहले पद में इदमहं कहा है। तथा दूसरे पद में अहंकार लीन होने से आत्मा को **अलयसत्तया** (विभाति) कभी लय न होने वाली सत्ता सहित प्रकाशित होती है कहा गया है।

(२२)

विग्रहेन्द्रियप्राणधीतमः।
नाहमेकसन्तज्जडं ह्यसत् ॥२२॥

मैं नहीं देह इन्द्रिय प्राण बुद्धि अज्ञान कुछ भी।
मैं ही हूं एक मात्र सत् चेतन, ये तो हैं जड़ सभी॥

साधारणतः जब किसी से परिचय पूछा जाता है, वह अपना नाम बताता है। पर **मैं** कहने वाला नाम कैसे हो सकता है? मैं कहने वाला स्वयं को शरीर मानकर शरीर का नाम, शरीर की उत्पत्ति के अनुसार आयु तथा अन्य शरीरों के साथ संबंध बताकर परिचय देता है। पर यह तात्विक रूप से ठीक नहीं है। अगर **मैं** शरीर को कहा जाय तो, न जाने कितने शरीरों में **मैं** ने जन्म पाया कौन जानता है? इसी जन्म की कहें तो भी जन्म से आज तक शरीर बदलता रहा है - शिशु, बालक, किशोर, युवा, अधेड़, वृद्ध हो रोज बदल रहा है यह। परन्तु **मैं** वैसे का वैसा ही सच्चिदानन्द है और अपने पूर्ववर्ती शरीरों के नष्ट होने पर भी अमर । **मैं** उन सभी शरीरों के प्रकट होने और लय होने का साक्षी बना शाश्वत है। इस प्रकार **मैं** नश्वर शरीरों से एकदम भिन्न तत्व है, जिसके बारे में गीता कहती है, -**'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।'** (गीता - २/२०) (यह न जन्मता है, न मरता तथा एक बार अस्तित्व में आने पर कभी असत् नहीं होता। यह अज, अमर, शाश्वत और पुरातन है, शरीर के नष्ट होने पर भी अविनाशी है।) जब कि शरीर पञ्चमहाभूतों से बना जड़ और मरणधर्मी होता है। शरीर को न अपना ज्ञान होता है न पदार्थोंका। यही बात इन्द्रियों, प्राण, मन, बुद्धि और अविद्या के विषय में समझी जा सकती है। जब दूसरे शरीरों से संबंध की बात होती है तो **मैं** को पुत्र आदि कहा जाता है। जब आंखोंसे नहीं दिखता तब कहा जाता है **मैं**

अन्धा हूं, जिसका अर्थ है आंखों को **मैं** मान लिया गया है। इसी प्रकार प्राणों के धर्मों के संबंध में **मैं** भूखा हूं, **मैं** प्यासा हूं, इत्यादि कहा जाता है। बुद्धि के विशिष्ठ ज्ञान पानेपर **मैं** डॉक्टर हूं, **मैं** इन्जीनियर हूँ आदि कहा जाता है। पर यह विचारणीय है कि -**'मैं' पुत्र, अन्धा, सुखी, दुःखी, डाक्टर, इंजीनिअर, अज्ञानी आदि कुछ भीनहीं हो सकता।'** एक सद् रूप आत्मा में अविद्या के कारण अलग-अलग उपाधियों के गुणों के साथ तादात्म्य कर उन गुणों को आत्मा के मान लिये जाते हैं। जैसे एक कलाकार अलग-अलग वेश धर कर अलग-अलग भूमिकाओं में आता है वैसे ही एक अज सत्रूप आत्मा भिन्न-भिन्न उपाधियों के साथ अलग-अलग सी प्रतीत होती है। चेतनात्मा के जड़ शरीरादि उपाधियों के साथ तादात्म्य होने से ही **'मैं शरीर हूं'** आदि भाव उदय होते हैं, जो अहंकार की ही प्रतीति होती है। यह अज्ञान मूलक होने के कारण मिथ्या है, तथा आत्मज्ञान से ही इसका निवारण होता है।

(२३)

सत्वभासिका चित्क्ववेतरा ।
सत्तया हि चित् चित्तया ह्यहम् ॥२३॥

आत्मा के स्वत्व को करे प्रकाशित जो
ऐसा अन्य चैतन्य कैसे - कहीं हो।
निज प्रकाश से ही आत्मा भासित हो
अद्वैत आत्मा के ही सत् चिद् हैं गुण दो॥

प्रस्थान त्रयी नाम से विख्यात उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और गीता ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक प्रमुख ग्रन्थ हैं। तीनों में ही स्पष्टतया इस जगत और इसके रङ्गमंच पर प्रस्तुत हुवी अथवा होने वाली प्रत्येक वस्तु, जिस तत्त्व से प्रकाशित होती है उसी की व्याप्ति सर्वत्र बतलाई है। वही द्रष्टा है

वही दृश्य भी है और अगोचर होने से अदृश्य भी है। वही ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय भी है। **ब्रह्मसूत्र** में **'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'** (सूत्र - १/१) (अब- अन्तःकरण की शुचिता रूप अर्हता प्राप्त कर - ब्रह्म पर विचार हो।) तथा **'जन्माद्यस्य यतः'** (सूत्र-१/२)(उसी से इस जगत का उदय हुवा है।) आदि विज्ञान मय **५५५** सूत्रों में जहाँ **ब्रह्म एवं** उसी के अंश विलक्षण **आत्म तत्त्व** का निदेशन है वहीं **उपनिषदों** में उसी का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। **'ईशावास्यमिदॅं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत'** (ईशोपनिषद), **'अयमात्मा ब्रह्म एकमेकाद्वितीयम्'** (बृह. उ.), **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छा. उ. ३/१४/१), **'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्षः सर्व भूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'** (श्वे.उ.-६/११), **'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।'** (श्वे.उ. -३/१८), **'अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः'**। (कठो. एवं श्वे. उ.), **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'**(मुण्डक.), **'तत्सत्यम्..... स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'** (छा.उप.६/८/७), **'यतो वाचो निवर्तन्तेः अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान। न विभेति कदाचिनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।।'** (तैत्ति.उप.- ब्रह्मानन्द वल्ली तथा **'अहमात्मा मुडाकेश सर्व भूताशयस्थितः'** (गी.१०/२०), **'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत'** (गी.१३/२), **'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते'** (गी.- ११/१२)तथा **'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च। वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।'** गी. १५/१५) जैसे अनेकों वाक्यों से आत्मा की विलक्षणता, परमात्मा (ब्रह्म) एवं आत्मा का अभेद, जीव एवं आत्मा में अद्वैत और आत्मा को परमात्मा रूप से जगत का उपादान कारण एवं अभिन्न कारण कहा गया है। गीता के

-'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।' (गी.-१७/२३) के अनुसार एक ही चैतन्य, **व्यष्टि** में **जीव** और **समष्टि** में ईश्वर कहा जाता है।

(२४)

ईशजीवयोर्वेषधीभिदा ।
सत्स्वभावतो वस्तु केवलम् ॥२४॥

ईश्वर - जीव में जो भी भेद आभास पाता
वह चेतनात्मा की उपाधियों से उपज जाता।
पर दोनों में स्वरूप से सत जाना जाता
भेद नहीं दोनोंमें है - यही ज्ञान में आ जाता।।

ईश्वर अंश होने के कारण **अंश** और **अंशी** में स्वभावतः कुछ भी भेद नहीं होता और जीवात्मा भी सत्-चित स्वरूप ही होती है। पर जीव **व्यष्टि** (एक शरीर और मन/बुद्धि) के साथ संग और तादात्म्य करने से ही अपना जीवत्व पाता है। स्थूल शरीर में आसक्ति रखने और इसी को आत्मा मानने से जीव **सीमित शक्ति वाला** प्रतीत होता है, सूक्ष्म शरीर (अन्तःकरण और इन्द्रियों) से तादात्म्य होने से जीव **सीमित ज्ञान वाला** प्रतीत होता है, तथा कारण शरीर (अविद्या) से तादात्म्य के कारण जीव **कर्ता**, **भोक्ता** तथा **बद्ध** प्रतीत होता है। **इस प्रकार जीव में अल्प शक्तित्व, अल्प ज्ञातृत्व, बद्धत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व का आभास स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की उपाधियों के कारण होता है।** सत्स्वरूप होने से जीव-ईश्वर (ब्रह्म) में कोई वास्तविक भेद नहीं है। **व्यष्टि-जीव** का अस्तित्व **समष्टि-ईश्वर** रूप जगत के बिना नहीं होता। जैसे व्यष्टि-तरङ्गों का अस्तित्व समष्टि-समुद्र के बिना संभव नहीं होता। सृष्टि के उपादान समष्टि-पञ्चमहाभूतों के बिना व्यष्टि-

शरीरों का भी अस्तित्व इसी प्रकार संभव नहीं है। सृष्टि रूप से प्रकट होने वाला सत् ही ईश्वर है और यही सब स्थूल-सूक्ष्म उपाधियों का कारण होने से **सर्वशक्तिमान** होता है तथा अपनी **महत्** रूप बुद्धि के कारण **सर्वज्ञ** भी होता है। अज्ञान जनित होने से उपाधि मिथ्या होती है। इसी से ईश्वर और जीव में भेद का आभास मिथ्या होता है, पर व्यवहार में रज्जु के सर्प की भांति सत्य लगता है। इनका अभेद सूक्ष्म ज्ञान-दृष्टि से आभासित होता है और यह पारमार्थिक होता है।

(२५)

वेषहानतः स्वात्मदर्शनम् ।
ईशदर्शनं स्वात्मरूपतः ॥२५ ॥

उपाधि रूप आवरण के हटने से आत्म-दर्शन हो पाता।
निज स्वरूप के ज्ञान से ही ईश्वर दृष्टि - पथ में आता।

शरीर के पांच-कोशों के भीतर छिपी आत्मा का परम शक्ति, परम ज्ञान और सदा स्वच्छन्द रूप से दर्शन पंचकोशों के भेदन से ही संभव होता है। पंचकोशों के भेदन का तात्पर्य है -**'मैं शरीर हूं'**। **'मैं प्राण हूं'**। **'मैं मन हूं'**। **'मैं बुद्धि हूँ'**। तथा **'मैं कर्मफलों सें बद्ध हूं।'** जैसी भावनाओं को छोड़कर **'अहं ब्रह्मास्मि'** की भावना को दृढ़ करना । ऐसे निरन्तर देहादि में **आत्मभाव** का त्याग करने से सच्चिदानन्द आत्मा के स्वरूप का बोध होकर आत्मानुभूति की प्राप्ति होती है, यही परमात्मा का दर्शन है ।

सामान्यतः लोग मानते हैं कि अपनी श्रद्धा और भक्ति से हमें अपने इष्ट-देव के दर्शन हो जायेंगे और वे अपने पूजा अनुष्ठानों में रत होते हैं। पर हमें इष्ट - रूप में जिसका भी दर्शन होता है वह दृश्य-वस्तु होने से जड़, सीमित और क्षणिक ही होती है। परमात्मा तो अनन्त,

अविनाशी और सत् चित् रूप होते है। इसीलिये किसी भी रूप के दर्शन को ईश्वर-दर्शन मानना केवल भ्रम है। ऐसी भ्रमात्मक धारणा को छोड़कर आत्मदर्शन श्रेयस्कर है। अविद्यात्मक भ्रम से ईश्वर दर्शन कैसे संभव है?

जब शरीर के पंचकोशों को साधना द्वारा विलीन किया जाता है, जब चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है और मन अ-मन होकर निष्क्रिय हो जाता है तब अवचेतन मन की शान्ति में आत्मा की अपरोक्षानुभूति हो जाती है और **परा-वाक्** का श्रवण होता है। यही आत्मानुभव कहा जाता हैं।

आत्मा या परमात्मा को साक्षात् प्रकट नहीं किया जा सकता है, पर कुछ व्यावहारिक तथ्यों से उनका अनुमान किया जा सकता है। सबके ही अन्तर में आत्मा के चैतन्य रूप से परमात्मा का अस्तित्व होता है, इसीलिये किसी के लिये भी **'मैं नहीं हूं'** विचार को मन में रखना संभव नहीं होता। सभी में **अहमस्मि** का भाव सदा सर्वदा विद्यमान रहता है।

- जब अंधेरे में दिखाई न देने के कारण कोई पूछता है - **कौन?** तब तुरन्त हमारा उत्तर होता है **मैं**। आगे प्रश्न किये जाने पर ही नाम बताया जाता है। क्योंकि नाम अज्ञान रूप भ्रान्ति होता है और **अहमस्मि** (मैं) भाव चेतनात्मा से अनायास स्फुरित होता है।

- गहरी निद्रा में इन्द्रिय समेत मन लय हो जाता है, तब हम अपने दुःख दर्द भूल कर **आनन्द** का अनुभव करते हैं। यह आनन्द कहां से आता है? सुषुप्ति में मन आत्मा में स्थित हो जाता है और आत्मा से ही हमें यह आत्मानन्द रूप **सुख** प्राप्त होता है।

- आंख बन्द कर कल्पना करें **'मैं मर गया हूँ'**। कोई भी ऐसी कल्पना नहीं कर सकता। क्योंकि आत्मा नित्य है और मैं रूप से शरीर में

सदा सजग रहती है साक्षी रूप से। बस यही कल्पना की जा सकती हैं कि, **'मेरा मृत शरीर जमीन में पड़ा है और 'मैं' उसे देख रहा हूँ'** । यह आत्मा के **मैं** रूप से सदा साक्षी रहना सिद्ध करता है।

- सृष्टि में पेड़-पौधे, पक्षी, चींटी, कीड़े, पशु, मनुष्य, पत्थर आदि सभी का **अस्तित्व** है। यही अस्तित्व या **सत्** का अंश जड़ चेतन सभी में समान रूप से स्थित है। यही सत् (अस्तित्व) **परमात्मा** है।

- संसार में कोई धन-सम्पन्न हैं कोई कंगाल, कोई तन्दुरुस्त है कोई रोगी कोई जन्मान्ध है, कोई अल्पायु तो कोई दीर्घायु होते हैं। ऐसा क्यों? यह पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्त को सिद्ध करता है, साथ ही यह भी कि **सृष्टि में एक सर्वज्ञ ईश्वर** की सत्ता है, जो सबके कर्म और उनके फलों के संबंध में जानते हैं और सभी को उनके कर्मानुसार फल देते हैं उनकी आयु समृद्धि स्वास्थ्य आदि का निश्चय करते हैं। कर्म तो अपने स्वरूप से जड़ होते हैं अत: स्वयं फल नहीं दे सकते तब निश्चयही **फलदाता ईश्वर** का अस्तित्व है।

- शङ्कराचार्य जी ने कहा है, **'आत्मा का अस्तित्व अवश्य है क्योंकि जो कहता है नहीं है, वह भी नकारते हुए भी उसके अस्तित्व का साक्षी ही रहता है**। उसके नकारने की दशा भी उसकी आत्मासे ही स्फुरित होती है।

- महान डच विचारक डेकार्टे (Rene Descartes) अपने दर्शन में विचार करना ही मूल आधार मानते थे, और कहते थे **'मैं विचार करता हूँ इसी से मैं हूँ'** (I think therefore I am) विचार करने से परोक्ष-अपरोक्ष ज्ञान पाया जा सकता है और इससे ही आत्म-दर्शन तथा परमात्म दर्शन पाना संभव होता है।

(२६)

आत्मसंस्थितिः स्वात्मदर्शनम् ।
आत्मनिर्द्वयात्मनिष्ठता ॥२६॥

अद्वैत आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप का भान होना
और इसके साक्षी रूप का सम्यक ज्ञान होना।
यही कहलाता आत्मा का दर्शन होना
और यही है आत्मा में निष्ठा से स्थित होना॥

आत्मा या परमात्मा साक्षात् सामने किसी प्रकार प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। तब आत्म-दर्शन क्या है? वेदान्त दर्शन के अनुसार सम्यक् ज्ञान पाने को **द्रष्टा-दृश्य, विषयी-विषय** और **अहम्-इदम्** आदि पदार्थों का विवेक होना जरुरी है। तत्त्व-ज्ञान की प्रक्रिया में **द्रष्टा विषयी** और **अहं** एकाकार चैतन्य और सत् रूप होते हैं। जब विषयी में विषय अथवा विषय में विषयी अध्यारोपित होते हैं तब ज्ञान भ्रमात्मक और मायिक होता हैं और **अज्ञान** उत्पन्न होता हैं। यही स्थिति द्रष्टा-दृश्य, अहं-इदं के सम्बन्धों में चेतन-जड़ अध्यारोपण होने से होती है। द्रष्टा एक अद्वैत निर्विकार चेतना होती है। यही विषयी और अहं स्वरूपभी है, पर दृष्य जागतिक होने से दृष्टा से बाह्य स्थित होता है इसकी विषय तथा इदं के साथ एकरूपता होती है। यह जड़, अनात्म, अनहं प्रकृति के विविध विकृतियों से युक्त होने से तथा द्रष्टा के एक अद्वैत एवं विकार रहित होने से, एक ही 'द्रष्टा' अनेक रूप 'दृश्य' का ज्ञान पा सकता है।

ज्ञान-साधन रूप इन्द्रियों में अन्धत्व, बधिरत्व, क्षीणत्व आदि विकृतियां किसी मात्रा में संभव होती हैं जिस से ज्ञान में विकृति होना

संभव है। इन्द्रियों से ज्ञान इन्द्रियों से सूक्ष्म और अपेक्षाकृत कुशल मन में पहुंचता है, पर मन भी वासना-तृष्णा संकल्प-विकल्प, विश्वास-अविश्वास, भय-अभय जैसे द्वन्दात्मक विकारोंसे ग्रस्त रहता है और इसमें तज्जनित विकृति होना संभव है। तब यह ज्ञान द्रष्टा रूप आत्मा में पहुंचता है। अतः सम्यक् ज्ञान के लिये ज्ञान साधनों का विकार रहित होना आवश्यक है। **'द्रष्टा'** रूप से आत्मा शुद्ध ज्ञान रूप ही होती है, यह दृश्य कभी नहीं होती। इसलिये उपाधियों में **'अहं'** भाव न रखने, **'मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ'**- इसी ज्ञान-वृत्ति को मन में धारण कर स्वरूप में स्थित रहनेसे **'आत्मदर्शन'** होना कहा गया है। जैसे कोई राजा स्वप्न में स्वयं को भिखारी देख कर दुखी होता है पर, जागने पर अपना राजसी स्वरूप देखकर, उसे प्रतीति हो जाती है कि 'मैं भिखारी नहीं राजा हूँ।' इसी प्रकार जीव-भाव को त्याग जब अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब आत्मज्ञान की स्थिति से सच्चिदानन्द की प्राप्ति होती है यही परम-पद की प्राप्ति रूप परमात्मा दर्शन भी है।

(२७)

ज्ञान वर्जिताऽज्ञानहीन चित् ।
ज्ञानमस्ति किं ज्ञातुमन्तरम् ॥२७ ॥

आत्म - चैतन्य विषयों के ज्ञान - अज्ञान से परे होना।
शुद्ध चिद् ज्ञान आत्मा का कदापि न वस्तुपरक होना॥

सामान्यतः हमें पदार्थों का ज्ञान अपनी बुद्धि से प्राप्त होता है। ज्ञान के साथ ही अनेक अज्ञात वस्तुओं सम्बन्धी अज्ञान भी हमें होता है। इन्द्रियगोचर विषयों तक सीमित रहने वाला यह ज्ञान मन और इन्द्रियों के

द्वारा मिलता है। पर जब हम आत्मा को एक विषय मान कर उसके ज्ञान पाने का प्रयत्न करते हैं हम असफल होते हैं, क्योंकि आत्मा जड़ इन्द्रियों मन एवं बुद्धि से अगोचर है। बुद्धि में ज्ञान की सामर्थ्य आत्मा के चैतन्य के सम्पर्क से मिलती है इसी लिये बुद्धि के वस्तु-परक ज्ञान में ज्ञान और अज्ञान दोनों सम्मिलित रहते हैं। ज्ञान और अज्ञान दोनों को प्रकाशित करने वाला आत्म चैतन्य इनसे असंपृक्त रहता है, क्योंकि प्रकाशक प्रकाश्य से भिन्न ही होता है। जो आत्मा स्वयं चैतन्य रूप हो, और जिससे बुद्धि में ज्ञान-सामर्थ्य होती है, वह बुद्धि का विषय कैसे हो सकती है। बुद्धि प्रमाण द्वारा पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करती है। पर स्वयं ज्ञान रूप होने से आत्मा स्वयं प्रमाण-प्रमेय-प्रमाता ही है। स्वरूप में स्थित होने पर अन्तर में स्वयंमेव यह आभास प्राप्त होता है कि **मैं चैतन्य हूं** यही आभास बुद्धि की ज्ञान शक्ति है। **मैं स्वयं प्रकाश हूँ और विषय, ज्ञान एवं अज्ञान से परे हूँ का आभास ही आत्म-ज्ञान है।**

(२८)

किं स्वरूपमित्यात्मदर्शने ।
अव्ययाभवाऽऽपूर्णचित्सुखम् ॥२८॥

मेरा स्वरूप क्या? विचार करने से ही
अज - आत्मा का स्वरूप पाने से ही।
प्राप्त हो पूर्ण अखंड सुख निज अन्तर से ही
स्थित रहे जब सच्चिदानन्द आत्मा में ही।।

मनुष्य आजीवन अक्षय सुख की खोज में सांसारिक विषयों में भटकता रहता हैं, और अपनी चेष्टाओं से अधिक वासना और तृष्णा पाते हुवे, संसार के तथाकथित सुखों से दुःख ही पाता हुवा जीवन व्यतीत करता है। शाश्वत सुख का निधान तो उसकी आत्मा ही होती है, बाह्य विषयों से सुख नहीं मिलता - इस ज्ञान से आत्मा में स्थित होने से वह फिर सुख के लिये नहीं भटकता। आत्मा का स्वरूप ही आनन्द है - यह स्वरूप ज्ञान ही आत्मदर्शन है। किसी पदार्थ का स्वरूप वही कहा जाता है जिसे छोड़ने से पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं रहता जैसे अग्नि का स्वरूप ऊ ष्णता है इसी से ऊष्णता न रहने पर अग्नि का 'अग्नित्व' नहीं रहता, यह ऊ ष्णता चाहे सभी पदार्थों को भस्म कर नष्ट कर दे पर अग्नि को इससे कोई कष्ट नहीं होता। अब अगर कोई यह माने कि 'मैं दुःख स्वरूप हूँ' तब उसे दुःख भार समान नहीं लगना चाहिये और न उसे दुःखों का निवारण करना चाहिये। पर व्यवहार में इसका विपरीत ही होता है। अपने होश-हवाश में कोई अपने को दुःख स्वरूप नहीं मानता, दुःख सभी को भार होते हैं और उनका निवारण करना सभी का जीवन में मुख्य उद्देश्य होता है। क्योंकि हमारी आत्मा का अर्थात् **हमारा स्वरूप आनन्दमय है**। श्वेताश्वतर उपनिषद - **६/१२** में कहा गया हैं, -**'तमोत्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्'**। (जो परमात्मा को अपने अन्तर में 'स्थित देखते हैं' वे ही सदा शाश्वत सुख प्राप्त करते हैं, अन्य नहीं।) बृहदारण्यक उप. **३/९/२८** में कहा है - **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणम्'**। शङ्कराचार्यजी ने अपने भाष्य में इसका तात्पर्य बताते हुवे कहा है - 'विज्ञप्ति (बोध) का नाम ही विज्ञान है। यही आनन्द भी है। ब्रह्म-विज्ञान विषय-विज्ञान की भांति दुःख से व्याप्त नहीं होता। वह तो प्रसन्न, कल्याणमय, अनुपम, आभासरहित, नित्यतृप्त और एक रस है।' तैत्तिरीयोपनिषद् - **३/२** में भी इसी प्रकार कहा हैं, -**'विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्ये व खल्विमानि भूतानि जायन्ते...'** (विज्ञान

को ही ब्रह्म रूप जानना चाहिये उसीसे सभी जीवों की उत्पत्ति होती है....) परमात्मा स्वरूप आत्मा ही पूर्ण है - जिस **पूर्ण से 'सर्वंखल्विदं' रूप पूर्ण निकल कर भी वह पूर्ण ही रहता है।** उसमें विकृति नहीं होती। अपूर्णता का आभास दुःख उत्पन्न करता हैं जो पूर्णता के पास नहीं फटकता।

(२६)

बन्धमुक्त्यतीतं परं सुखम् ।
बिन्दतीह जीवस्तु दैविकः ॥२६॥

बन्ध-मुक्ति से परे जो सच्चिदानन्द कहलाता।
दैवी-गुण युक्त जीव वही परमानन्द पा जाता॥

मोक्ष और पुण्यों के फल भोग के बारे में सामान्यतः यही धारणा होती है कि मोक्ष मरणोपरान्त प्राप्त होता है और इसका अर्थ होता है स्वर्गादि लोकों का सुख और अलौकिक सुख भोगों की प्राप्ति। स्वर्ग की कल्पना भी इस प्रकार की गई है। **'यत्र दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वः पदास्पदम्।'** (जिस सुख में दुःख का स्पर्श भी नहीं होता, जिसके भोग से दुःख नहीं मिलते जो इच्छा मात्र से उपलब्ध हो वही स्वर्ग सुख कहा जाता हैं) मोक्ष को भी - **'यत्र दुःखा निगच्छति'** (जहां दुःखों का नाश हो जाता है।) कथन से संसृति दुःखों का अन्त होना कहा गया है। पर शाश्वत सुख आत्मा का ही स्वरूप होने से यह लौकिक या अलौकिक किन्ही विषयों में नहीं रहता। नित्य सुख आत्मा में ही है जिसे पाने के लिये मनुष्य कस्तूरी मृग की तरह विषयों में भटकता रहता है।

आत्मा के बद्ध होने का भाव भी अज्ञान जनित ही है। क्योंकि आत्मा के नित्यमुक्त और अखण्ड आनन्द स्वरूप होने से, पर अपने ऐसे

स्वरूप के अज्ञान से ही आत्मा के बन्धन और उसका जीवत्व कल्पित होता है। ज्ञान पाने पर अज्ञान के नष्ट होने से 'बन्धनमुक्ति' या **मोक्ष** होता है। आप्त वचन **'सा विद्या या विमुक्तये'** का यही तात्पर्य है। यह नहीं कि **मैं** पहले बन्धन में था और अब जेल से छूटे कैदी की भांति बन्धन मुक्त हो गया। मोक्ष प्राप्ति मरणोपरान्त ही होने की धारणा भी भ्रम-मूलक है। अज्ञान के नष्ट होने से प्राप्त होने वाली मुक्ति के साथ जन्म-मृत्यु का क्या संबंध हो सकता है। ज्ञान पाने पर अज्ञान नष्ट होकर मोक्ष सुख तत्काल इसी लोक में इसी जन्म में मिल जाता है। गीता में ऐसे ही मुक्त लोगों को **स्थितप्रज्ञ, गुणातीत** और **भक्त** कहकर उनकी श्लाघा की गई है। शङ्कराचार्य जी ने ऐसे ज्ञानियों को आत्मबोध और विवेक चूड़ामणि में **आत्माराम विराजित** और **जीवन्मुक्त** कहा है।

सांख्य शास्त्र जीवात्मा में भिन्नता और आत्मा की अनेकता बतलाता है, योग जगत को सत्य कहता है, वेदान्त अद्वैत का प्रतिपादक होने पर भी ईश्वर-जीव में द्वैत बतलाता है, मीमांसक भी अन्य प्रकार से तत्त्व को बतलाते हैं, इस प्रकार भिन्न-भिन्न, शास्त्रों में एक मत नहीं होने से ईश्वर-जीव, मोक्ष-बंध आदि में भ्रम प्रतीत होता है। **'मैं बद्ध जीव हूं'**- ऐसी आत्मा विषयक कल्पना अज्ञान है और यही वास्तविक बन्धन है। जीवात्मा और परमात्मा (ब्रह्म) में जब तक एकत्व रूप अद्वैत भावना पुष्ट नहीं होती तब तक ही बन्धन है। **चेतनात्मा और जड़ विषयों एवं अहंकार में ग्रन्थि पड़ना मानकर जीव को बद्ध मानना स्वयं एक अज्ञान ग्रन्थि है,** जो आत्मा को अद्वैत सदामुक्त चेतना मानने वाले ज्ञान से ही खुल सकती है। यहां महर्षि इसी ज्ञान को **दैविक** की संज्ञा देते हैं।

गीता में वर्णित **दैवी सम्पदा** के गुणों को प्राप्त कर सत चित आनन्दरूप ब्रह्म और अन्तरात्मा के एकत्व के ज्ञान के विकसित होने से यह बन्ध-मोक्ष का अज्ञान नष्ट हो जायगा। ज्ञान प्राप्ति के बाद अपने

स्वरूप को जानकर जीव को न किसी लोक में जाना होता है और न मृत्यु की ही प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

(३०)

अहमपेतकं निजविभानकं ।
महदिदंतपो रमणवागियम् ॥३०॥

अहंकार को मारकर निज स्वभाव धारण करना।
यही है महातपों को तपना, 'रमण' का यही कहना॥

संसार में कुछ भी प्राप्त करने के लिये प्रयत्न रूप कर्म करने पड़ते हैं, प्राप्य वस्तु जितनी ही महत्वपूर्ण होती उसी परिमाण में प्रयत्न भी कठिनतर होते हैं। आध्यात्मिक उन्नति में मन में रहने वाली दुर्भावनाओं काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मात्सर्य जैसे षड् रिपुओं और दम्भ रूप अहंकार के कारण बाधा पड़ती है। अतः इन्हें यत्न पूर्वक दूर कर अपने अन्तःकरण को परिमार्जित करना आवश्यक होता है। इस प्रयास में नित्य आत्मनिरीक्षण करना अनिवार्य होता है। मन में होने वाले विकारों को नियमित आत्मविश्लेषण द्वारा पता लगाकर उचित साधनों से उन्हें दूर करने के निरन्तर प्रयत्न एक तप के समान ही है जिसे यहां महर्षि रमणने **महदिदंतपो** (यही महान् तप है) कहा है। वास्तव में मन को पवित्र बनाने हेतु सारी वासनाऐं दूर करना, दूषित भावनाओं को मन में आने से रोकना और मन को आत्मा में केन्द्रित रख आत्मचिन्तन करना भगीरथ प्रयत्नों द्वारा ही साध्य है। इसीलिये गीता निर्देश करती है, -'**उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमनसादयेत। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।**' (गीता

- ६/५) (संसार से अपना उद्धार करने के लिये और अधोगति रोकने के लिये स्वयं ही प्रयत्नशील होना चाहिये, मन जीते जाने पर मित्रवत् कल्याण करने वाला और उच्छ्रिंखल हो विषयों में रमने वाला एवं दुर्भावनाओं से युक्त होने से दुष्मन की तरह विनाश कारी बन जाता है) इस प्रकार मन का नियन्त्रण महातप ही है। तप शरीर को भूख, प्यास से कष्ट देना और जीवन के उचित सुखों को त्यागना नहीं हो सकता। क्योंकि शरीर को यातना देने से तो अन्त:करण में उपजी उद्विग्नता से मन-बुद्धि संयत नहीं रह सकती और अशान्ति मिलती है। शान्ति बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। अन्त:करण शुद्ध बना सब प्राणियों के प्रति **'सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामया'** की भावना से परोपकार-रत रहने से सच्ची शान्ति मिलती है।

॥ इति श्री महर्षि रमण कृतं उपदेशसारम् ॥

इति

अथ श्री लक्ष्मीधर कवि कृतं

अद्वैत मकरन्दः

(१)

कटाक्षकिरणाचांतनमनमोहाब्धये नमः ।
अनन्तानन्दकृष्णाय जगन्मंगलमूर्तये ॥१॥

सादर नमन उन श्री अनन्तानन्द श्रीकृष्ण को
जगत में सबके हितकारी साक्षात मंगलमूर्ति जो।
जिनके कृपा-कटाक्ष-किरण के निक्षेपण से शुष्क हो
क्लेश प्रद मोहार्णव जीवों का पुनर्जन्म रूप बन्धन जो।।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण स्तुति द्वारा श्री लक्ष्मीधर कवि अपने इष्ट देव श्रीकृष्ण तथा गुरु श्री अनन्तानंदजी को नमन करते हैं। आदर भाव दर्शाने हेतु कवि ने गुरु का नाम परोक्ष रूप से लिया है।

यहां मोह रूप अज्ञान को समुद्र की संज्ञा देकर संसृति बन्धन रूप संसार सागर का निर्देश है जिसे पार कर मुक्ति की प्राप्ति कष्ट-साध्य होती है। अज्ञान के समुद्र का पार पाना कठिन होता है, जैसे सागर में भयानक लहरें उठती गिरती रहती हैं उसी प्रकार मोहार्णव में भी शंका, उद्वेग जैसी भावनाऐं उठती गिरती रहती हैं, सागर में जैसे भयानक जलचर रहते हैं मोहार्णव में क्रोध, मद, मोह, लिप्सा जुगुत्सा आदि रहते हैं जो धात करने को तय्यार रहते हैं।

(२)

अहमस्मि सदा भामि कदाचिन्नहमप्रियः
ब्रह्मैवाऽहमतः सिद्धं सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥२॥

मैं निरन्तर अहं - अहं कर निज भास कराती
मैं सभी को अतिप्रिय सबकी मङ्गलकारी।
निज सत-चित-आनन्द स्वरूप से जानी जाती
ईश्वर अंश अविनाशी मैं ही सबकी साक्षी॥

श्रुतिप्रमाणों में आत्मा को **ईश्वरअंश, अविनाशी** और **सत् चित् आनंद राशी** कहा गया है। इस श्लोक में कवि सब जीवों में अहर्निश स्फुरित रहने वाली आत्मा को सच्चिदानंद स्वरूप बता कर उसको ब्रह्म रूप सिद्ध कहते हैं, **मैं** रूप से आत्मा का आभास सभी को सदा होते रहने पर भी अज्ञान जनित मोह-भ्रम से हम अपने शरीर को ही अपना अस्तित्व मान अपना व्यवहार करते हैं। हमारा निरवकाश इन्द्रिय-ज्ञान भी हमें यही मानने को बाध्य करता है, पर इन्द्रियां तो पदार्थों सम्बन्धी शब्द-स्पर्शादि विषयोंका ज्ञान देने को क्षमता रखती हैं आत्मा की ही शक्ति से वे यह क्षमता पाती हैं। वे कैसे आत्मा को प्राप्त कर सकती हैं? आत्मा मन और बुद्धि से सूक्ष्म होने से सांसारिक भावों एवं पदार्थों के ज्ञान से असंपृक्त रहती है। जहां मन और बुद्धि क्षण-क्षण में बदल कर नये रूप धरते हैं आत्मा नित्य निर्विकार रहती है। जैसे नाटक में दृश्य और पात्र बदल जाते हैं पर द्रष्टा निर्विकार रहते हुवे दृश्य देखते रहते हैं, आत्मा भी सर्वद्रष्टा रूप से साक्षी बनकर हमारे भावों कर्मों को देखती रहती है। **जागृति** दशा में आत्मा हमें स्थूल शरीर से संसार के पदार्थों का ज्ञान कराती है। **स्वप्न** दशा में यही हमारे सूक्ष्म शरीर द्वारा हमारे स्वप्नशरीर (अवचेतन मन) का बोध कराती है। और **सुषुप्ति** की दशा में हमारे कारण शरीर (अज्ञान) का बोध कराती है।

सभी लोग अपने आप से सबसे ज्यादा प्रेम करते हैं, और दुःख, कष्ट पाने पर तुरन्त उपचार करते हैं तथा सदा सुखी रहने का प्रयास करते रहते हैं। अपनी अवहेलना कभी नही करते, यही हमारा **आत्मा के प्रति** प्रेम है, जो आत्मा के **आनन्दमय** स्वरूप के कारण प्रेरित होता है। सांसारिक पदार्थों के प्रति हमारा प्रेम किसी कारण से ही होता है पर आत्मा के प्रति प्रेम **अहैतुकी** एवं **निरपेक्ष** होता है। इस प्रकार आत्मा सत चिद आनन्द स्वरूप होने से ब्रह्म से भिन्न नहीं है, और तभी **अहं ब्रह्मास्मि** की अवधारणा को ही आत्मबोध कहा जाता है।

(३)

मय्येवोदेति चिद्व्योम्नि जगद्गन्धर्वपत्तनम्।
अतोऽहं न कथं ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वकारणम्॥३॥

मेरे ही विस्तृत चिदाकाश से
मायामय संसार उपजता।
मैं ब्रह्मसम सर्वज्ञ सबका ही कारण,
मेरा न कोई कारण हो सकता।

यह संसार **इदं** कहलाने वाले पदार्थो का समुच्चय है। **अहं** रूप आत्मा ही इन सभी पदार्थों से विलक्षण होने के कारण इन सभी **कार्यों** का **कारण** है तभी कवि जगत को **मय्येवोदेति** (मुझसे ही उदय हुवा) कह कर ब्रह्म स्वरूपा आत्मा को **सर्वकारणकारणं** तथा **सर्वज्ञं** बतलाते हैं। क्योंकि **जगत्कारण** होने से और अपने सर्वद्रष्टा स्वरूप से आत्मा ही इस जगत की ज्ञाता है। पर चेतन आत्मा जड़ जगत का कारण कैसे है? आत्मा निर्विकार और कार्य कारण से परे होने से, जैसे बीज वृक्ष का कारण होता हैं, दूध दही का कारण है उस प्रकार से **मैं** जगत का कारण नही होता। पर जैसे भ्रम से **रस्सी** एक **सर्प** का कारण बनती है या **मृगमरीचिका** मरुस्थल

में जल का कारण होती है **चेतनात्मा** वैसे ही इस **जगत** का कारण **प्रतीत** होती है। इसी कारण इसे **गन्धर्वपत्तनम्** कहा है। संसार को सत्य देखने वाला अविद्यात्मक भ्रम **कारण शरीर** के रूप से हमारे अन्तर में रहता है। इसी से **आत्मा** में **जीवभाव** भी होता है जो **तत्त्वज्ञान** प्राप्त हो जाने पर ही निवृत्त होता है।

(४)

न स्वतः प्रत्यभिज्ञानान्निरंशत्वान्नचाऽन्यतः ।
न चाश्रयविनाशान्मे विनाशः स्यादनाश्रयात् ॥४॥

मैं ज्ञानमूर्ति अविनाशी हूं
अंग रहित कैसे मेरा नाश अन्य से हो।
मैं निराधार कारण रहित भी तब
कौन है मेरा विनाश करे जो॥

गीता में कहा गया है - **'वेदाविनाशिनं नित्यं य एमजमव्ययम्। कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्'**॥ (गीता - २/२१) (हे पार्थ, आत्मा को शाश्वत अजन्मा और अमर समझो, इसे कौन मार सकता है? और यह किसे मार सकती है?) नाश **तीन** प्रकार से संभव होता है - **एक** स्वयं ही - जैसे शरीर जन्म से वृद्धावस्था तक क्षीण होता हुवा स्वयं नष्ट हो जाता है । **दूसरा** अन्य द्वारा जैसे शरीर के अङ्गों में किसी के द्वारा चोट मारने या काटने से शरीर को नष्ट करने से, और **तीसरा** आधार को नष्ट करने से जैसे अन्न, जल जीवन के आधार न पाने से या रहने के स्थान के नष्ट होने से निराधार करने से शरीर नष्ट हो जाता है। पर जीवात्मा शरीर के जन्म से वृद्ध होने तक अपरिवर्तित रहती हुवी शरीर के बाल, युवा, बृद्ध, जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति दशाओं की समान रूप से साक्षी रहती है और **अहं** रूप से अपना आभास देती रहती

है। यही इन्द्रिय-मन-बुद्धि को अनुभव रूप चेतना देती और स्मृति भी कराती है। अगर यह शरीर के साथ नष्ट होने वाली होती तो स्मृति कैसे होती? कभी-कभी बच्चों में पूर्व जन्मों की स्मृति होती देखी जाती है जो आत्मा के शाश्वत होने को प्रमाणित करती है। ऐसा तत्त्व जो सदा रहता है, अनुभव करता है, स्मरण करता है, नश्वर कैसे हो सकता है? आत्मा के निराकार और अंगहीन होने से इसे नष्ट नहीं किया जा सकता है। आकार होने से घट नष्ट किया जा सकता है, शरीर के अंग काटे जा सकते हैं पर आत्मा नहीं, घट नष्ट को सकता है पर उसका आधार मिट्टी नहीं।

(५)

न शोषप्लोषविक्लेदच्छेदाश्चिन्नभसो मम ।
सत्यैरप्यनिलाग्न्यंभः शस्त्रैः किमुतकल्पितैः ॥५॥

जब वायु अग्नि, जल सूक्ष्म आकाश तत्त्व को ही
सुखा जला भिगा सकने में नहीं समर्थ कभी।
तब मुझ चेतना को कैसे कोई नष्ट कर सके कभी
शस्त्रों से भी नहीं काट सकता असत जगत मुझे कभी॥

विनाश **प्राकृतिक** अथवा **मानव कृत** साधनों से भी हो सकता है। यहां बतलाते हैं कि आत्मा का विनाश उनसे भी संभव नहीं है।

प्राकृतिक शक्तियों में वायु, अग्नि, जल हैं जो सुखा, जला भिगा (डुबा) कर नाश करने की सामर्थ्य रखते हैं। मनुष्य कृत साधन अस्त्र-शस्त्र होते हैं जो पृथ्वी तत्त्व से संबंधित होते हैं। (धातुऐं पृथ्वी में स्थित अयस्कों से प्राप्त होती हैं, जिनसे अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण होता है।) अतः यहां शस्त्रै शब्द से पृथ्वी तत्त्व का तात्पर्य है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश तत्त्व क्रमशः सूक्ष्मतर होते हैं और आकाश तत्त्व सबसे

सूक्ष्म होनेसे अन्य चार तत्त्व इसकी बाधा नहीं होते। ये पाचों तत्त्व अवास्तविक जगत का मिथ्याभास कराते हैं। जब ये तत्व अपने से सूक्ष्म आकाश तत्त्व का कुछ भी नहीं विगाड़ सकते हैं, तब अतिसूक्ष्म आत्मा को, जो सर्वव्यापी चेतना ही है कैसे नष्ट कर सकते हैं।

(६)

अभारूपस्य विश्वस्य भानं भासन्निधेर्विना।
कदाचिन्नाऽवकल्पेत भा चाऽहं तेन सर्वगः॥६॥

बिन चेतनात्मा के सान्निध्य से
जड़ जगत का होता न आभास कभी।
सर्वथा अकल्पित हूं मैं अहं रूप से
भासती हूं जीवों के अन्दर बसी॥

जैसे विद्युत आकाश में सर्वव्यापी रूप से रहती है पर उसका आभास हमें तभी होता है जब वह दो बादलों के बीच चमके या तार में रहने पर भी जब उसका सम्पर्क जड़ उपकरणों से कर दिया जाता है और प्रकाश उष्मा आदि रूप से उसकी प्रतीति होती है। इसी प्रकार जड़ जगत का आभास भी चेतना के सान्निध्य से होता है। चेतनात्मा शरीर में सर्वव्यापी रूप से रहती है और जड़ शरीर, मन, बुद्धि इसी के कारण चेतना पाते हैं। सर्वव्यापकत्व से ही आत्मा की तुलना, हमें चक्षुओं से दिखाई देने वाले अनन्त अवकाश के आकाश जैसा प्रतीत होने से की जाती है। हमारा मन भी चेतना से प्रकाशित होकर उसी में स्थित रहता हैं। शंकराचार्य जी ने दक्षिणामूर्ति स्तोत्र के एक श्लोक में बताया है -'**विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं । पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया॥**' (यह संसार दर्पण में दिखाई देने वाले

बिम्ब की भांति हमारी अन्तरात्मा में झलकता है। उस आत्मा का दर्शन हमें सुषुप्ति में मन और इन्द्रियों के लय होने पर होता है जैसे इन्द्रजाल से छूटने पर सत्य का आभास होता है।) ब्रह्म रूप आत्मा एक ऐसी सत्ता है जो, **काल, कारण** और **अवकाश** जैसे सभी बन्धनों से मुक्त है। ये सभी बन्धन असत होते हैं फिर भी अज्ञान से आत्मा में आरोपित किये जाते हैं।

यही अगले श्लोक में बताया है।

(७)

न हि भानादृते सत्वं न ते भानं चितोऽचितः ।
चित्संबन्धोऽपि नाध्यासादृते तेनाहमद्वयः ॥७॥

अस्तित्व के ज्ञान बिन होता न जड़ जगत का आभास ही
क्योंकि बिन चेतन के सम्पर्क के अनुभव जड़ का संभव नहीं।
चेतन का जड़ से संबंध हो पाता केवल अध्यास से ही
जड़ की संगति रहित सूक्ष्म अनन्त चेतनात्मा है अद्वैत ही॥

इन्द्रियों द्वारा जड़ पदार्थों का अनुभव प्राप्त होता है, पर इन्द्रियां मन तथा बुद्धि के सूक्ष्म भावों का अनुभव कराने में समर्थ नहीं होतीं। चाहे बाहर की स्थूल वस्तुऐं हों या अन्तःकरण के सूक्ष्म भाव बिना इन का अस्तित्व प्रकाश में आये इनका अनुभव नहीं संभव होता इसी **सत्** अथवा **अस्तित्व** का ज्ञान हमें चेतनात्मा से ही प्राप्त होता है।

अपने चेतनात्मा से असंबद्ध होने से ही हम **शशश्रृङ्ग, आकाश कुसुम** आदि का अस्तित्व अनुभव नहीं कर सकते। अगर इन्हें चेतनात्मा का प्रकाश प्राप्त होता तो इनका भी अनुभव संभव होता। यहां यह शंका हो सकती है कि जड़ और चेतन का संसर्ग कैसे? क्योंकि, -

१. दोनों विपरीत धर्मी होने से (चेतन सत तथा जड़ असत), प्रकाश

और अन्धकार की भांति दोनों का साहचर्य असंभव है।

२. चेतन निराकार और व्यापक होता है, पर जड़ में आकार और सीमा होती है।

३. दोनों के ही अस्तित्व के स्तर भिन्न होने से जड़ और चेतन का संसर्ग असत होता है। जैसे स्वप्न की दो वस्तुऐं एक ही स्तर वाली होने से संयुक्त हो सकती है पर एक जागृति की और दूसरी स्वप्न की वस्तुओं का संयोग नहीं हो सकता।

अत: जड़ चेतन का संबंध अवास्तविक होने से असत होता है, यह **अध्यारोप** कहलाता है, इसमें कार्य-कारण, वस्तु-गुण या अंशी-अंश जैसे संबंध नहीं होते, जैसे **रज्जु** में **सर्प** की प्रतीति होने में न सर्प में रज्जु के गुण होते हैं, न उनमें अंशी-अंश या कार्य-कारण संबंध ही होता है। **स्थूल रज्जु में सूक्ष्म चेतना के अध्यारोप से रज्जु में सर्प का भान होता है।**

(८)

न देहो नेन्द्रियं चाऽहं न प्राणो न मनो न धीः।
ममतापरिरब्धत्वादात्क्रीडत्वादिदं धियः ॥८॥

न देह न इन्द्रियां न प्राण न मन न बुद्धि हूं मैं किंचित् ही।
ये तो होते ममत्व ग्रसित इदं रूप धरे बुद्धि के खिलाड़ी ही॥

मैं कहलाने वाली सत्ता को यहां परिभाषित किया गया है। हम अपने शरीर, इन्द्रियादि को ही नहीं मन के विचार बुद्धि में रहने वाले वस्तुपरक ज्ञान सभी को **मैं-मेरा** रूप ममत्व से व्यक्त करते हैं और **मेरा शरीर, मेरा मन** आदि कहने से प्रकट होता है कि ये **इदं** रूप से मेरे स्वामित्व में हैं अथवा **मैं** इनका स्वामी हूं। जेसे **मेरा घर** या **मेरा कुत्ता** की भाांति **मेरी आत्मा** कहने से अलिप्त, बन्धरहित, बिभु आत्मा को

ममत्व से बांधना भ्रमात्मक और अज्ञान मूलक है। सांसारिक वस्तुऐं ही चाहे हमारे स्वामित्व में हों या अन्य, जड़ होने से **इदं** भाव के विषय होते हैं। पर वह चेतन तत्त्व जो इनका आभास कराता है **अहं** रूप होने से विलक्षण होता है और **मम** या **इदं** विचारों का विषय नहीं हो सकता।

(६)

साक्षी सर्वान्वितः प्रेयामहं नाऽहं कदाचन्।
परिणामपरिच्छेदपरितापैरुपप्लवात् ॥६॥

मैं हूं साक्षी सर्वव्यापी परमानन्द प्रियतम एक सबका ही ।
विकारयुक्त दुःखदायी सीमाबद्ध देहधर्मी अहंकार नहीं॥

स्वयंप्रकाश चेतनात्मा सांसारिक पदार्थों और अन्तःकरण के भावों, बुद्धि के ज्ञान आदि का आभास कराने वाली होने से **साक्षी** (साक्षात् इक्षते) कही जाती है। असीम आकाश को भी प्रकाशित करने से आत्मा सर्वव्यापी और आकार तथा परिमाण रहित है.। (नाप-तोल और आकार वाली वस्तु सर्वव्यापी नहीं हो सकती।) आत्मा सबको ही अति प्रिय होती है क्योंकि जो कुछ भी लोगों को प्रिय होता है वह आत्मा के लिये है । इस प्रकार का अहैतुक प्रेम सांसारिक वस्तुओं में नहीं होता। सांसारिक प्रेम किसी न किसी स्वार्थ से प्रेरित होता है पर आत्मा के प्रति प्रेम नहीं। इसी आत्म-प्रेम से ही जीवों में **जिजीविषा** (जीने की इच्छा) और **अभिनिवेश** (मृत्युभय) स्वाभाविक होता है। इसके विपरीत निजत्व भावनावाला **अहंकार** मन में रहने वाली भावनाओं और परिस्थितियों से बद्ध रहता है और क्षण-क्षण में बदलता रहता है। अहंकार शरीर धन, मान, ज्ञान, कर्म, तप, परिवार वंश आदि कई चीजों से संबंधित होता है तथा देश-काल से प्रभावित होता है। अहंकार को आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक सभी परिस्थितियों से उत्पन्न दशाओं में चोट पहुंचती है

और इन स्थितियों में मनुष्य दु:ख का अनुभव करते हैं। अपनी इन विशेषताओं कें कारण अहंकार **अहं** रूप धारण करते हुवे भी **चेतनात्मा** से एकदम भिन्न होता है। यह **देह** का धर्म है, और शरीर शान्त होने पर ही जाता है या आध्यात्मिक साधनों से परोपकारादि सत्भावों में रूपान्तरित हो कर श्रेय-साधन बनाया जा सकता है।

(१०)

सुप्तेऽहमि न दृश्यते दु:खदोषप्रवृत्तय:।
अतस्तस्यैव संसारो न मे संसतृसाक्षिण: ॥१०॥

सुषुप्ति में अहंकार भी जब लुप्त हो जाता
तब ही दुष्प्रवृत्तियों दु:खों का कोई स्पर्श न पाता।
संसार में अहंकार ही वासना-तृष्णा के रंग लाता
पर मुझ साक्षी से तो यह सदा कतराता॥

अहंकार चित्त में बसता है और चित्त चेतनात्मा का अन्तरङ्ग होने के कारण चेतनात्मा और अहंकार विपरीत धर्मी होने पर भी साथ रहते हैं। पर संसार के साथ अहंकार की ही घनिष्ठता होती है, वही वासना तृष्णा के अनेकों रंगों से रंग कर संसार को जीव के लिये आकर्षक और भोग्य बना देता है। जैसे रंगीन चश्मे से देखने पर वस्तुओं में रंगत आ जाती है, अहंकार के चश्मे से संसार अधिक मोहक लगता है। सुषुप्ति में हमें जब न अहंकार और न संसार ही का आभास होता है तब चेतनात्मा अपने आनन्द का अनुभव कराती है। तब हमें दु:ख और दुष्प्रवृत्तियां नहीं व्यापतीं हैं, पर जागृति और स्वप्न में जब आत्मा और अहंकार दोनों सक्रिय रहते है तब हमें दु:ख-दर्द का और दुर्भावनाओं का अनुभव होता है। क्योंकि ये अहंकार की ही परिणति होते हैं।

(११)

सुप्तः सुप्तिं न जानाति नाऽसुप्ते स्वप्नजागरौ।
जाग्रत्स्वप्रसुषुप्तीनां साक्ष्यतोऽहमतदृशः ॥११॥

सोये अहंकार को सुषुप्ति का ज्ञान होता न कभी
सदा चैतन्य आत्मा की सुषुप्ति-जागृति स्वप्न हों न कभी।
अहं रूप से चेतनात्मा रहती है देह में सदा ही।
द्रष्टा बनती वह देह इन्द्रिय मन बुद्धि की क्रिया की॥

देह के सुप्त होने पर अहंकार सुप्त हो जाता है अतः उसे सुषुप्ति के कार्यों का ज्ञान नहीं होता और तब ज्ञाता-ज्ञान का कोई भेद नहीं होता है। ऐसा चेतनात्मा के कारण, जो देह की तीनों दशाओं में जागृत ही रहती है होता है। सुषुप्ति सुप्त की ही हो सकती है जागृत की नहीं। अहंकार ही देह की तीनों दशाओं में अलग-अलग प्रकार से व्यवहार करता है। **जागृति** में वासना के संकल्पों में कर्मों की ओर प्रेरित कर विषयों में लगाता है और राग-द्वेष, सुख-दुःख से आवेशित करता है। **स्वप्न** में मनोराज्य में घुमाता फिराता **मनोमय** पदार्थों की वासना से सुखी-दुःखी बनाता है। **सुषुप्ति** में अहंकार जब सुप्त हो जाता है तब जीव को सुख शान्ति का अनुभव होता हैं और आत्मा का अनुभव होता है। इस समय अहंकार के न होने से कोई वासना भी नहीं रहती और न विषयासक्ति ही। पर अहंकार सुषुप्ति के बाद फिर जागृत हो जाता है और **संसार नाटक** का संचालन करने लगता है।

अहंकार का लक्षण **अभिमान** है और इसमें आधात के बिरुद्ध अपने स्वरूप को बनाये रखने और प्रत्याघात करने की प्रवृत्ति रहती है। इस प्रकार जिसे **जीव** अपनी **अस्मिता** मानता है और जिसमें आंच न आने देने के लिये वह प्रतिकार हेतु जो भी बल प्रयोग करता है वह उसका

अहंकार है। चाहे वह अस्मिता शरीर, परिवार, धर्म, राष्ट्र विषयक हो या भाषा, विचार और आस्था के सम्बध में हो। गीता में हमारी जड़ देह की रचना में **अपरा प्रकृति** के आठ अवयवों में अहंकार को महत्वपूर्ण माना गया है, -**'भूमिरापोऽनलो वायुः रवं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥'** (गीता-७/४) (पांच महाभूत मन, बुद्धि अहंकार आठ अवयवों वाली **(अपरा)** प्रकृति है, आगे चेतनात्मा को जगताधार **परा** प्रकृति बताया गया है।) सांख्य-कारिका में भी इसको सृष्टि के पच्चीस तत्वों में माना गया है। (पुरुष और प्रकृति अनादिरूप **'प्रकृतिं' पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि'** - (गीता-१३/१६) महत्, अहंकार, पांच तत्मात्राऐं, मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और पांच महाभूत इस शरीर रूपी क्षेत्र के अवयव हैं। इनमें प्रकृति एवं पुरुष दोनों को अनादि जानना चाहिये। इन्हीं की विकृतियों (अहंकार आदि) एवं गुणों (सत्व, रज, तम) को प्रकृति ही उत्पन्न करती है।)

(१२)

विज्ञानविरतिः सुप्तिस्तज्जन्म स्वप्नजागरौ।
तत्साक्षिणः कथं मेस्युर्नित्यज्ञानस्य ते त्रयः॥१२॥

सुषुप्ति में ज्ञान - विरति से अज्ञान बल पा जाता
स्वप्न जागृति में ही ज्ञान का उदय हो जाता।
साक्षी रूप आत्मा ही तीनों दशाओं का द्रष्टा हो जाता
ये दशाऐं नहीं आत्मा की जड़ शरीर ही इनको पाता॥

ज्ञाता को पदार्थों का इदं ज्ञान होना विज्ञान कहा जाता है, और ऐसी दशा में जब यह नहीं होता **सुषुप्ति** होती है। स्वप्न और जागृति की अवस्थाओं में स्वप्न की और संसार की वस्तुओं का इदं रूप आभास होता रहता है। ये दशाऐं देह की होती हैं आत्मा की नहीं क्योंकि आत्मा

सभी काल में और दशाओं में साक्षी रूप से चैतन्य रहती है। इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न एक **तुरीयावस्था** है जिसमें **सोऽहं** या **अहं ब्रह्मास्मि** रूप आत्म-ज्ञान होता है, यही योगशास्त्र में **समाधि** कही जाती है। इस दशा में मन निष्काम होकर आत्माभिमुख हो, आत्म-सुख पा जाता है और ध्येय आत्मा या ब्रह्म में एकीकृत होकर शान्ति पाने से सर्व-दुःख-निवृत्त हो जाता है। यही प्रबोधन या प्रत्यक्षानुभव की अवस्था कहलाती है।

(१३)

षड्विकारवतां वेत्ता निर्विकारोऽहमेत्यथा।
तद्विकारानुसंधानं सर्वथा नाऽवकल्पते ॥१३॥

जन्म स्थिति वृद्धि विकृति क्षय नाश-के षट् विकारमय ही
संसार के पदार्थ सब, इन सभी का ज्ञाता सदा मैं ही।
पर मैं निर्विकार ही रहूं इन षट्- विकारों से सदा परे ही
अन्यथा इन विकारों की कैसे होती स्मृति ही मुझे भी॥

चेतनात्मा ज्ञान रूप कही जाती है। ज्ञान के विषय भिन्न-भिन्न होने पर भी ज्ञान के स्वरूप में कोई भेद नहीं होता। स्वयं-प्रभा रूप यह ज्ञान न उत्पन्न होता है न विनष्ट ही होता है, क्योंकि उत्पत्ति-विनाश मानने से उसका साक्षी कौन होगा? क्योंकि कोई अपनी उत्पत्ति-विनाश देखे यह संभव नहीं है। यही ज्ञान संसार के पदार्थों के **जन्म, स्थिति, वृद्धि, विकृति** (परिवर्तन), **क्षय** और **नाश** - षड्विकारों के रूप में हमें चेतनात्मा से प्राप्त होता है, क्योंकि वही उनकी साक्षी रहती है, पर स्वयं निर्विकार और इन विकारों से परे होती है, सदा एकरस एक रूप ही बनकर।

योग वासिष्ठ में ज्ञान प्राप्ति की **सात भूमिकाऐं** (सीढ़ियां) बताई

गई हैं जिन के द्वारा उपर चढ़ते हुवे ज्ञान प्राप्ति होती है, -'**ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता। विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा।। सत्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्ति नामिका। पदार्थाभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता।।** (यो.बा. ११८/५ पहली - शुभेच्छा (तत्त्वज्ञान पाने और मोक्ष की प्रेरणा), दूसरी - विचारणा (सत्संग एवं सद्ग्रन्थों के श्रवण मनन निदिध्यासन से तत्त्व विचार), तीसरी-तनुमानसा (वासना एवं भोगासक्ति के त्याग से मन को सूक्ष्मकरना), चौथी - सत्वापत्ति (सत्य में स्थिति होना), पांचवीं - असंसक्ति, (निर्लिप्त और अनासक्त होकर रहना), छठी - पदार्थ अभावना (संसारिक पदार्थों से सर्वथा विरति), सातवीं - तुर्यगा (तुरीयावस्था अर्थात् ध्यान की चरम अवस्था समाधि में स्थित हो आत्मनिष्ठ रहना।)

(१४)

तेन तेन हि रूपेण जायते लीयते मुहुः।
विकारिवस्तुनस्तेषामनुसंधातृता कुतः ॥१४॥

अनेक शरीरों में बारम्बार
जन्मने मरने वाले जीव क्षण भर के।
कैसे जान सकते हैं उन विकारों को
जो स्वयं ग्रस्त रहते उन से ॥

चेतनात्मा **ज्ञानी** है, और संसार के सभी पदार्थ उसके **ज्ञेय** होते हैं। जड़ पदार्थ षट्-विकृतियोंयुक्त होने से परिवर्तनशील और नश्वर हैं, एक चेतनात्मा ही निर्विकार है। पर बौद्ध मत में **क्षणिक विज्ञानवाद** के अनुसार, जड़ और चेतन अलग-अलग सत्ता नहीं हैं। चेतना विभिन्न जड़ पदार्थों के रूप में प्रकट और लय होती रहती है और इस प्रकार ज्ञाता और

ज्ञेय दोनों का प्राकट्य और लय होता है, जिससे चेतनता क्षण-क्षण परिवर्तित होती रहती है।

पर यह धारणा मिथ्या है। अगर चेतना विकारशील हो तब विकार का ज्ञाता कौन होगा? अगर हर विकृति के साथ चेतना नष्ट हो तब उन विकृतियों का ज्ञान कैसे संभव होगा? अगर क्षण-क्षण में चेतना जन्मने और लय होने वाली हो तब वह कहां से जन्मती और लय होने पर कहां जाती है? क्या वह भी जड़ ही है? क्योंकि शून्य से चेतन की उत्पत्ति संभव नहीं होती। इन सभी, शंकाओं का समाधान क्षणिक विज्ञानवाद नहीं करता, इसी से अमान्य है। यही सत्य है कि सब सांसारिक पदार्थ एक सनातन चेतन सत्ता से प्रकाशित होते हैं, तभी सदा होते रहने वाली घटनाओं की स्मृति और ज्ञान संभव होता है।

(१५)

न च स्वजन्मनाशं वा द्रष्टुमर्हति कश्चन्।
तौ हि प्रागुत्तराभावचरमप्रथमक्षणौ ॥१५॥

निज जन्म - मरण का ज्ञान न हो पाता
किसी मर्त्य को कभी भी।
ये दोनों ही होते क्रमशः पूर्व-पर जन्मों के
अभाव के अंतिम और प्रथम क्षण ही।

किसी भी मनुष्य को अपने जन्म और मृत्यु के समय की स्मृति नहीं होती। क्योंकि स्मृति जीवात्मा के सशरीर होने पर ही संभव है। पर **जन्म**-पूर्व जन्म के शरीर के अभाव का अंतिम क्षण, तथा **मृत्यु**-पुनर्जन्म के शरीर के अभाव का प्रथम क्षण होने से, इन दोनों के मध्य कालमें शरीर का अभाव रहता है और स्मृति-करण मस्तिष्क नहीं रहता।

आत्मा मृत्यु के समय अपने सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर को लेकर जीव के प्रारब्ध और संस्कार के साथ नये शरीर में जाता है, - जैसा गीता -१५/८ में कहा है, -**'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।'** पर इस काल में अविद्या (कारण शरीर) का संसर्ग होने से ज्ञान अप्रभावी रहता है। आत्मा स्वयं ज्ञानरूप होने से शरीर के सभी कालों का द्रष्टा रहती है। इसके बिना ज्ञान की प्रक्रिया **-प्रमाण- प्रमेय - व्यवहार** सम्पन्न नहीं होती। गीता वाक्य -**'वेदाहं समतीनानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मा तु वेद न कश्चन।'** के अनुसार आत्मा का ज्ञान भूत वर्तमान भविष्य तीनों कालों का होता है पर यहां परिस्थिति विशेष में अविद्या के प्रभाव से जन्म-मृत्यु के क्षणों की स्मृति नहीं होती। गीता - **१५/१५**, का कथन, **'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृति ज्ञानमपोहनं च। वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्'** के अनुसार इस परिस्थिति में अविद्या के कारण स्मृति का **'अपोहन'** (माला से मनके की तरह गुंथे ज्ञान को निकालना) संभव नहीं होता है।

(१६)

न प्रकाशेऽहमित्युक्तिर्यत्प्रकाशैकबंधना ।
स्वप्रकाशंतमात्मानमप्रकाशं कथं स्पृशेत्॥१६॥

'मैं स्वयं को नहीं जानता'-कहना
अज्ञान की बाधा से हो जाता।
ज्ञान रूप चेतनात्मा को क्योंकर
अज्ञान स्पर्श भी कर पाता॥

अज्ञान को ज्ञान की भांति अनादि कहा गया है क्योंकि यह ज्ञान के अभाव रूप में उसी के साथ संयुक्त है, ज्ञान सत् है वही, असत होने पर

अज्ञान हो जाता है। दोनों ही इस प्रकार प्रकाश-अन्धकार, धूप-छांव, विद्या-अविद्या की तरह विपर्यय रूप होने पर भी संयुक्त रहते है। आचार्य भास्कर राय ने ललिता सहस्त्रनाम के भाष्य में देवी के **विद्याऽविद्यास्वरूपिणी** नाम कीं व्याख्या में कहा है स्वात्मवृत्तिरूप ज्ञान विद्या और इसी की चरमवृत्ति **'अहं ब्रह्मास्मि'** का ज्ञान अविद्या जिसमें है वही **'विद्याऽविद्यास्वरूपिणी हैं'** वृहन्नारदीय पुराण में कहा है कि परमात्मा की परा शक्ति जगत्कार्य करती है वही **भाव-अभाव** रूपों से विद्या-अविद्या नामों से जानी जाती है। यही **ज्ञान-अज्ञान** के संबंध में भी मान्य है, जैसे 'लक्ष्मी' से धन, सम्पत्ति, सामर्थ्यादि का बोध होता है, पर 'अलक्ष्मी' से उसके अभाव का द्योतन होता है और अपने संकुचित अर्थ में 'दरिद्रा' का पर्याय बन जाता है।

इसी प्रकार अपने अन्तःस्थित आत्मा का ज्ञान न होना मानना भी अन्तः अज्ञान ही है। ज्ञान-विज्ञान स्वरूपा आत्मा सबका प्रकाशक होने से अज्ञान को भी प्रकाशित करती है। हमारे कारण शरीर (आनन्दमय कोष) में आत्मा अविद्या रूप अज्ञान से आवृत रहती है, पर जैसे बादलों के सूर्य को ढकने पर भी वे स्वयं आभासित होते हैं उसी प्रकार आत्मा के प्रकाश (ज्ञान) से अज्ञान भी प्रकाशित होता है। इसका अनुभव हमें सदा सुषुप्ति में होता है।

(१७)

तथाऽप्याभाति कोऽप्येषविचाराभाव जीवनः ।
अवश्यायश्चिदाकाशे विचारार्कोदयावधिः ॥१७॥

जब तक कोई जिज्ञासा हीन बना कोहरे सा
यह अज्ञात - तत्त्व अन्तर में रखता।
असहाय हो चिदाकाश में ज्ञान - सूर्य के
उदय होने तक भ्रमित - मन बना रहता।।

अज्ञान असत होने पर भी अपना आभास देता है। काल्पनिक पदार्थों के इन्द्रियगोचर न होनेसे उनका अनुभव नहीं होता पर अज्ञान का अनुभव हमें अपनी चेतनात्मा द्वारा होता है। लेकिन इसे वास्तविक भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वास्तविक पदार्थ का निराकरण (नकारता) संभव नहीं होता पर अज्ञान का निराकरण ज्ञान द्वारा किया जा सकता है। इसी से यहां अज्ञान को **कोऽप्येष** (कोई अनजाना तत्त्व) कहा है। अज्ञान का अस्तित्व ज्ञान सूर्य के उदय होने तक ही रहता है और वह कोहरे के समान अन्तर से छंट जाता है। महर्षि रमण ने चैतन्य आत्मा के, शरीर मन बुद्धि प्राण जड़ उपाधियों से तादात्म्य होने से इन्हीं को आत्मा मानकर व्यवहार करने को अज्ञान की संज्ञा दी है। शंकराचार्य जी ने विवेकचूड़ामणि में कहा हैं, -'**अज्ञानमूलोऽयमनात्मबन्धोनैसर्गिकोऽनादिरनन्त ईरित :। जन्माप्ययव्याधिजरादिदुःखप्रवाहपातं जनयत्यमुष्य॥**' (अज्ञान ही जीव के संसृति-बन्धन का मूल कारण है। यही अनादि-अनन्त रूपा अविद्या अपने नैसर्गिक रूप-अहंकार से जन्म, मृत्यु, रोग, जरा, दुःखादि से जीव को पीड़ित करती है।)(वि.चू.-श्लोक १४६।)

(१८)

आत्माज्ञानमहानिद्राजृंभितेस्मिञ्जगन्मये।
दीर्घस्वप्ने स्फुरन्त्येते स्वर्गमोक्षादिविभ्रमा॥१८॥

चेतनात्मा के अविद्या-आवरण से जगत रूप महानिद्रा ओंघाती।
तभी दीर्घ स्वप्न सम स्वर्ग-नरक, बंध-मोक्ष के रूप दिखाती॥

विराट पुरुष के '**एकोऽहं बहुःस्याम्**' रूप संकल्प से प्रकट हुवा यह संसार स्वप्नवत् ही है। मार्कण्डेय पुराण में राजा ऋतध्वज (कुवलयाश्व) और मदालसा रानी की कथा है जिसमें रानी अपने पुत्रों को लोरी के रूप में आध्यात्म का उपदेश सुनाती थी, -'**शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोसि**

संसार माया परिवर्जितोऽसि। संसार-स्वप्न त्यज मोह निद्रा मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रं॥ शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव । पञ्चात्मकं देहमिदं न तेऽस्ति नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः॥' (मदालसापुत्रों से कहती थी, तुम स्वरूप से शुद्ध चिद्रूप विकार रहित और संसार की माया से अलग हो, इस संसार स्वप्न और मोह निद्रा को छोड़ो। हे पुत्र । तुम शुद्ध आत्मा हो तेरा कोई नाम नहीं है वह कल्पित नाम तुझे अभी मिला है। तेरा यह पंचभूतात्मक शरीर न तेरा है न तू इसका है, फिर रोना किस बात का? आदि।) यहां भी संसार को एक लम्बा स्वप्न बताया है जिसमें मनुष्य इह लोक, परलोक, स्वर्ग, मोक्ष और इनको पाने के अनेक यज्ञों अनुष्ठानों के रूप से कर्म करता हुवा अपनी आयु पर्यन्त स्वप्न में ही विचरण करता रहता है। यह स्वप्न चेतनात्मा की अनादि निद्रा, अविद्या के कारण दिखता है।

स्वप्न में हम स्वप्न में देखी वस्तुओं का प्रयोग स्वप्न की आवश्यकताओं को पूरी करने के लिये करते हैं, इसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार वेद पुराणों में वर्णित स्वर्गादि लोक और इनकी प्राप्ति के प्रयास भी संसार स्वप्न के ही उपयोग में आते हैं। ज्ञान उदय होने तक ही यह रहता है। ज्ञान प्राप्त करने पर, इस महानिद्रा से जागने पर, इनका कोई अर्थ नहीं रहता। तब **बंध** और **मोक्ष** की कल्पना भी वास्तविक नहीं प्रतीत होती है। क्योंकि आत्मा को **नित्य मुक्त** जानने पर **बन्धन** किस को? बन्धन अगर अज्ञान जनित हो तब **ज्ञानरूप** आत्मा को बन्धन कैसे?

(१६)

**जड़ाजड़ विभागोऽयमजड़े मयि कल्पितः।
भित्तिभागे समे चित्रे चराचरविभागवत्॥१६॥**

जड़-चेतन वर्गीकरण है मुझ चेतन का कल्पित ही।
जैसे जगत - भीत में किये हों चराचर चित्रित ही।।

संसार को दीर्घ स्वप्न बतलाने के उपरान्त इसे चेतनात्मा द्वारा जगत की विशाल भित्ति पर प्रक्षेपित चित्र समान कहते हैं। जैसे किसी चित्र में स्थिर वस्तुऐं-पर्वत, घर, सड़क, तथा गतिमान वस्तुऐं-उड़ते पक्षी, बहता पानी हवा में आन्दोलित होते वृक्ष, गतिशील प्राणी आदि कितनी ही वस्तुऐं किसी फलक या दीवार पर किसी कलाकार द्वारा बनाई जा सकती हैं। उसी प्रकार चेतनात्मा द्वारा जड़-चेतन रूप से सृष्टि के पदार्थ वर्गीकृत किये जाकर जगत-भीति, में प्रक्षेपित होते हैं। वही परमचेतना किसी को चेतन और किसी को जड़ रूप से संसार में अपनी प्रकृति रूपा शक्ति से करती है।

(२०)

चैत्योपरागरूपा मे साक्षिताऽपि न तात्विकी।
उपलक्षणमेवेयं विस्तरंगचिदंबुधे: ॥२०॥

साक्षी हूं मैं ही चित्त में उठती सभी भावना तरंग की
चाहे परमतत्त्व के ज्ञान हेतु महत्ता नहीं इस रंग की
मैं तो स्वयं हूं चेतना-आगार शान्त ज्ञान-समुद्र निस्तरंग ही
मन के भावों का साक्षी होना मेरे स्वरूप का बस लघु अंग ही।।

चित्त में उठते विचार, बुद्धि की ज्ञान उर्मियां, निज मन का अहंकार सभी की चेतनात्मा साक्षी रूप से द्रष्टा बनी रहती है, पर स्वरूप का यह रंग स्वाभाविक भले ही हो तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से महत्व नहीं रखता। आत्मज्ञान हेतु तो आवश्यक होता है **चित्तवृत्तिनिरोध** ही, न कि चित्त की इन तरंगों के पीछे भागना। आत्मा की, स्वरूप में एक शान्त ज्ञान

समुद्र-**सच्चिदानन्द** के रूप से, धारणा कर इसका अनुभव किया जा सकता है। जैसे **सर्वंखल्विदं ब्रह्म** की धारणा से **ब्रह्म** के **जगत्कारण** रूप का अनुभव मिलता है, वैसे ही आत्मा का अनुभव करने हेतु चित्त में उठती विचार तरंगों से ध्यान हटा कर **निस्तरंग ज्ञान समुद्र** की धारणा से हो सकता है। झंझावात में, सागर की आन्दोलित लहरों से परे उनके कारण-रूप, उससे ही आच्छादित हुवे, शान्त जल की धारणा द्वारा ही सागर के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है।

(२१)

अमृताब्धेर्नमे जीर्णिमृषाडिंडीरजन्मनि।
स्फटिकाद्रेर्नमे रागः स्वाप्नसन्ध्याभ्रविभ्रमैः॥२१॥

झागों वाली मिथ्या लहरों के आन्दोलन से भी
मेरे अमृत - सागर में होती किंचित् भी विकृति नहीं ।
जैसे स्वप्निल सन्ध्या के रक्ताभ बादलों से न कुछ भी
हो शुद्ध स्फटिक पर्वत सी चेतना में कोई विकार नहीं॥

समुद्र में तरङ्गें उठने से न जल कम होता है न उनके लय होने से उसमें जल की वृद्धि होती है, इसी प्रकार चित्त में क्षण-क्षण में स्फुरित होती लय होती भावना तरङ्गों का हमारी चेतना में कुछ भी प्रभाव नहीं होता। शुद्ध स्फटिक, सन्ध्या कालीन रक्ताभ बादलों के प्रकाश में लालिमा-युक्त प्रतीत होता है, पर दिन के प्रकाश में श्वेत आभा देता है। शुद्ध स्फटिक पर्वत समान चेतनात्मा चित्त के विकारों से अलिप्त रहती सदा निर्विकार होती है। अन्तःकरण **में** क्रोध, शोक, मोह, संशयादि तथा अज्ञान रूप विकार रहने पर भी आत्मा सदा **शुद्ध सत् चिद् आनन्द** स्वरूप ही रहती है। जैसे शान्त समुद्र निरन्तर आन्दोलित होने वाली

लहरों का अधिष्ठान होता है, वैसे ही परमचेतन-ब्रह्म विकारयुक्त जगत का **तत्** रूप अधिष्ठान माना जाता है।

पांच कोषों के भीतर रहने वाली चेतनात्मा निर्विकार होने पर भी अज्ञान के कारण कोषों के विकारों से युक्त प्रतीत होती है। **अन्नमय कोष** के कारण स्थूल, कृषरूपा, **प्राणमय कोष** के कारण - भूख, प्यास वाली, **मनोमय कोष** के कारण भावना-उद्वेगों वाली **विज्ञानमयकोष** के कारण - ज्ञान, अज्ञानवाली और **आनन्दमयकोष** के कारण - आनन्द वाली प्रतीत होती है। पर यह स्फटिक के पर्वत की तरह बाह्य उपाधियों से परे शुद्ध तत्त्व **त्वं** रूप है। **तत्** (ब्रह्म) और **त्वं** (जीवात्मा) में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म जो जगत का अधिष्ठान कहा जाता है, वही साक्षी भी है और इसलिये आत्मा रूप से सबके ही अन्तरमें स्थित है। तभी श्रुति निर्देश करती है **तत्त्वमसि**।

(२२)

स्वरूपमेव मे सत्त्वं न तु धर्मो नभस्त्ववत्।
मदन्यस्य सतोऽभावान्न हि सज्जातिरिष्यते॥२२॥

'सत्व' मेरा स्वरूप है गुण नहीं
जैसे 'नभत्व' रहता आकाश में ही।
सिवा मेरे सत्व होता अन्य में भी
पर यों वे नहीं पाते समता मेरी कभी॥

अंशी ब्रह्म और अंश चेतनात्मा के, **सत्** (स्थिति), **चिद्** (ज्ञान) और **आनन्द** (सुख अथवा आकर्षण), स्वरूप कहे जाते हैं। सत रूप से स्थितित्व सांसारिक पदार्थों में भी होता है जो उनके अस्तित्व का बोध कराता है, पर पदार्थों को उनके सत् के कारण ब्रह्म और आत्मा के

समकक्ष नहीं कहा जा सकता, (वैसे भी ब्रह्म एवं आत्मा का सत्व सर्व व्यापी चैतन्य रूप होने के कारण सामान्य पदार्थों के सत् से विशिष्ट है)। जैसे आकाशत्व मात्र आकाश में ही अद्वितीय रूप से आभासित होता है वैसे ही आत्मा एवं ब्रह्म का सत् भी। सत इनका गुण नहीं **स्वरूप** ही होता है। पदार्थों में रहने वाला सत उनकी **स्थिति की भिन्नता** नहीं बल्कि **रूप की भिन्नता** बताता है। इससे पदार्थों और आत्मा/(ब्रह्म) में समजातीयता का प्रश्न ही नहीं होता।

(२३)

स्वरूपमेव मे ज्ञानं न गुणः स गुणो यदि।
अनात्मत्वमसत्त्वं वा ज्ञेयाज्ञेयत्वयोः पतेत्॥२३॥

ज्ञान भी स्वरूप है मेरा, कदापि वह गुण नहीं
मेरी पदार्थवत् 'ज्ञेय' संज्ञा होती, हो यदि गुण वही।
तब ज्ञेय - अज्ञेय के चक्रव्यूह में पड़ने से ही
मैं ज्ञानातीत होने से असत् कहने में आती॥

आत्मा का स्वरूप **चिद्** (ज्ञान अथवा चेतना) है। यह आत्मा का गुण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि **गुण** कहने से तात्पर्य होता कि आत्मा चेतना से प्रकाशित है पर यह तो स्वयं चेतना होने से उससे कैसे प्रकाशित हो सकती है ? चेतना से पदार्थ प्रकाशित होते हैं, इससे ज्ञान या चेतना का विषय होने से आत्मा भी साधारण अनात्म पदार्थों की तरह **जड़** कही जायगी। अगर ज्ञान से प्रकाशित न हो तो इसे **असत** मानना होगा क्योंकि चेतना से प्रकाशित न होने वाली वस्तु अभाव होने के कारण असत् होती है। अतः **सत्व** और **ज्ञान** (चेतना) आत्मा के स्वरूप हैं, गुण नहीं।

(२४)

अहमेव सुखं नाऽन्यदन्यच्चेनैव तत्सुखम्।
अमदर्थं न हि प्रेयो मदर्थं न स्वतः प्रियम्॥२४॥

मैं सुख का ही रूप हूं विपरीत नहीं
यदि विपरीत बनूं तब सुख कहीं नहीं।
जो मेरे निमित्त न हो वह प्रिय होता भी नहीं
मेरे कारण ही सब प्रिय हो जाते स्वतः नहीं॥

आत्मा **आनन्द स्वरूप** होने से सुख इससे भिन्न नहीं होता। अगर सुख भिन्न हो तब क्या वह आत्मा के लिये होगा? अगर नहीं तो भिन्नता कहां? यदि वह आत्मा के लिये हो तब वह सुख स्वतः प्रेय नहीं होगा, भिन्न होने से । अतः आनन्द या सुख आत्मा का स्वरूप ही है।

संसार में प्रिय लगने वाले मां-बाप, पुत्र-परिवार सभी किसी कारण से ही प्रिय होते हें और अगर ये कारण न रहें तो वे प्रिय नहीं हो सकते। इसी से संसार में हेतु के परिवर्तन से इनके प्रियत्व का परिमाण भी घटता-बढ़ता रहता है। सांसारिक सुख स्वार्थ परक होता है। पर आत्मा का सुख **अहैतुकी** और निःस्वार्थ होता है। यही सुख परम (absolute) होता है, सापेक्ष (relative) नहीं। इसी से हम स्वाभाविक तौर से आत्मा के आनन्दमय स्वरूप के कारण सुख की स्थिति में **स्व-स्थ** अनुभव करते हैं।

(२५)

न हि नानास्वरूपं स्यादेकं वस्तु कदाचन।
तस्मादखण्ड एवास्मि विजहज्जागतीभिदाम्॥२५॥

मैं हूं एक रूप जागतिक सम नानारूप नहीं कभी।
मैं तो अमर रहूं नश्वर होते प्रकृतिजन्य वस्तु सभी॥

ब्रह्म-अंश आत्मा निर्विकार सदा एक रूप रहती है। यही **सच्चिदानंद** स्वरूप अद्वैत-तत्त्व है। एक ही तत्त्व सर्वव्यापी रूप से स्थित होने से **सत्**, परम-चेतना स्वरूप ज्ञान-समुच्चय होने से **चिद्** और अहैतुकी परम-सुख का श्रोत होने से **आनन्द** भी है। इसी से यह **सत्यं शिवं सुन्दरम्** भी है। आत्मा के सत् चिद् आनन्द स्वरूपों का आभास हमें अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर रूप उपाधियों से होता रहता है। **स्थूल शरीर** (अन्नमय तथा प्राणमय) से आत्मा के **सत्** स्वरूप की प्रतीति होती है, **सूक्ष्मशरीर** (मनोमय तथा विज्ञानमय) से उनका **चिद्** स्वरूप उजागर होता है, तथा **कारण शरीर** से तादात्म्य होने से आत्मा का आनन्द मय स्वरूप का अनुभव होता है। बाजसनेयी संहिता (शुक्ल यजुर्वेद) में **सुख, विज्ञान** तथा **आनन्द** तीनों को पर्यायवाची कहा है, अत: स्पष्ट ही जो भी स्वयं स्फूर्त सुख है वह ब्रह्मतत्त्व अथवा आत्मतत्त्व ही है, सुषुप्ति के समय विज्ञानमय और मनोमय के लीन होने से जो स्थिति होती है, वही **निद्रा** कहलाती है। तब मन और बुद्धि की वृत्तियों के **अज्ञान** में लय होने से और इसी अज्ञान से आवृत्त रहने वाले **आत्मतत्त्व** के मन-बुद्धि में आभास होने से निद्रा में आनन्दानुभूति होती है। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है, - मन और बुद्धि की वृत्तियां सुषुप्ति के पहले क्षण में अन्तर्मुखी होकर आत्माभिमुख हो जाती हैं और अब सुषुप्ति काल में वे एकीकृत होकर **प्रज्ञानधन** बन कर सुखानुभव कराती हैं।

अज्ञान के पर्दे में होने के कारण हमें **आनन्दश्रोत** आत्मा का ज्ञान नहीं हो पाता, पर जागृति और स्वप्न के भावों का, मन-बुद्धि की वृत्तियों के सक्रिय होने से, हमें ज्ञान होता है।

शायद **'आनन्द'** के अज्ञान से आवृत्त होने के कारण ही गोस्वामी जी -**'सुखी ते मूढ़ जिन्हहिं न व्यापे जगतगति'** और आधुनिक विद्वान 'Ignorance is bliss' जैसे व्यावहारिक तथ्य बतला गये। एक प्रकार से देखा जाय तो ज्ञान जब तक चरम नहीं होता सुख नहीं होता ज्ञान की वासना क्षुब्ध करती रहती है। इसी से-छान्दोग्य उपनिषद कहता है, -**'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति.....'** (छा.उ. ७/२३/१), (अनन्त में ही सुख है परिमित में नहीं.....।) सीमित ज्ञान भी अज्ञान से संश्लेषित होने से सुख नहीं देता, बल्कि क्षोभ का कारण बनता है। इसीलिये जिज्ञासा भी क्षोभ-कारक होती है।

(२६)

परोक्षतापरिच्छेद शावल्यापोह निर्मलम्।
तदसीतिगिरालक्ष्यमहमेकरसंमहः ॥२६ ॥

अज्ञान - आवरण को भेद सम्यक्-दृष्टि से
भ्रम का कर निवारण निर्मल ज्ञान-वृद्धि से॥
समष्टि को निज में लख विज्ञान की दृष्टि से
औ तत्त्वमसि मन्त्र की होती निरन्तर इष्टि से ॥

शुद्ध ब्रह्म ही आत्मा रूप से हमारा अन्तर्यामी है। मनुष्य **व्यष्टि** रूप में उसे अपने शरीर की सीमा में पांच-कोषों में बन्द चेतना मानते हैं। **तत् त्वं असि** (तू ही वह ब्रह्म है) महावाक्य के चिन्तन-मनन द्वारा अज्ञान-यवनिका का पतन होकर **जीवात्मा** और **ब्रह्म** में **सच्चिदानन्द**

रूप से एकत्व की प्रतीति होती है। **तत्** परमात्मा के अर्थ में, सब प्रभावों का कारण, सर्वव्यापी सर्वद्रष्टा, सर्वशक्तिमान और समष्टि वाचक है। **त्वं** जीवात्मा के अर्थ में ईश्वर अंश रूप से व्यष्टि में हमारे अन्त:स्थित, तथा अज्ञान के कारण सीमित व्याप्ति, शक्ति एवं सामर्थ्यवान् जीव का वाचक है, जो हमारा **मैं** रूप परिचय है। जब ईश्वर (ब्रह्म) को आत्मा से भिन्न, दूरस्थ अज्ञात तत्त्व के रूप में मानने का अज्ञान दूर होता है तथा शरीर की सीमा में जीव की मान्यता वाली आत्मा के प्रति यह अज्ञान भी नष्ट हो जाता है, तब **समष्टि ईश्वर** और **व्यष्टि जीव** दोनों के एकत्व का आभास होता है। यही स्थिति **ब्रह्म साक्षात्कार** या **आत्मदर्शन** अथवा **मोक्ष** कहलाती है।

(२७)

उपशान्तजगज्जीवशिष्याचार्येश्वरभ्रमम्।
स्वतः सिद्धमनाद्यन्तं परिपूर्णमहं महः॥२७॥

जगत के जीवों में द्वन्द रूप
गुरु शिष्य मालिक भृत्य के भ्रम हटा।
मैं अनादि अनन्त काल स्थान कारण परे
अप्रमेय दिखाती ज्ञान छटा ॥

यहां **परिपूर्णम्** का तात्पर्य काल, स्थान, कारण और पदार्थों की सीमा से परे है। इनकी सीमा में सांसारिक नश्वर पदार्थ ही रहते हैं, इनसे विशिष्ट आत्मतत्त्व नहीं। **स्वतः सिद्ध** का तात्पर्य अप्रमेय (जिसे प्रमाणों द्वारा नहीं सिद्ध किया जा सकता है) बतलाता है। आत्मा **सर्वव्यापी, विभु** और **ज्ञान रूप** होने से यह कथन है। जैसे प्रकाश के देखने के लिये

किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान को जानने को किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती।

हमें जगत और उसके पदार्थों का द्वन्दात्मक आभास अपने अन्तर्निहित अज्ञान से ही होता है, क्योंकि सभी उस **भूमा** (अनन्त चेतना) के ही अंश हैं। **मैं अनन्त चेतना हूं** - इस तत्त्व का ज्ञान होने पर जीव और जगत सम्बन्धी सभी भ्रमों का निवारण हो जाता है। ऐसा होने पर जगत, जीव, शिष्य, आचार्य, मालिक, भृत्य जैसे द्वन्दात्मक भेद-भ्रान्ति का शमन होकर 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' रूप से ज्ञानोदय होता है।

(२८)

लक्ष्मीधरकवेः सूक्तिशरदंभोजसंभृतः ।
अद्वैतमकरन्दोऽयं विद्वद्भृंगैर्निपीयताम् ॥२८॥

लक्ष्मीधर कवि के ये वचन ऐसे
शरद-कमलों से एकत्रित मधु हो जैसे।
ज्ञान - आकर अद्वैतमकरन्द में से
पान करें सब ज्ञान-पिपासु भ्रमरों जैसे।

इस उपसंहार रूप अंतिम श्लोक में लक्ष्मीधर कवि जी मुमुक्षु विद्वानों और ज्ञान-पिपासुओं को शरद ऋतु के कमलों में एकत्रित जैसे इस 'अद्वैत मकरन्द' रूप ज्ञान का भ्रमरवत् पान करें का निर्देश दे रहे हैं। इस प्रकार यह, कवि का ज्ञानवाक्यों के अनुशीलन हेतु जिज्ञासुओं को निमन्त्रण है।

इति

।।इति श्री लक्ष्मीधर कवि कृतं अद्वैतमकरन्दः।।

उपसंहार

योग वासिष्ठ में संसार की उत्पत्ति के विषय में कथन है, - **'दीर्घस्वप्न स्थितिं यातः संसाराख्यो मनोबलात् असम्यग्दर्शनात्स्थाणाविक पुंस्प्रत्ययो मुधा।।'** अर्थात् यह संसार कहलाने वाला जंजाल मन की संकल्पशक्ति से देखे जाने वालेएक बड़े स्वप्न की तरह ही है। जैसे कोई हल्के प्रकाश में ठीक तरह न देख सकने से किसी सूखे वृक्ष के ठूंठ को वहां खड़े मनुष्य की तरह देखता है। नींद से जागने पर स्वप्न की वस्तु नहीं दिखाई देती और भली प्रकार प्रकाश होने पर ठूंठ में दिखने वाला मनुष्य भी लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मज्ञान होने पर संसार का कारण-रूप ब्रह्म ही आभासित होता है। अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य सें शंङ्कराचार्य जी ने बताया है, **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव ना परः।'** (ब्रह्म ही तत्त्व रूप सत्य है, संसार मिथ्या है, जीव भी ब्रह्म-अंश होने से सत् ही है) योग वासिष्ठ में इसी बात को स्पष्ट करते हुवे कहा गया है, -**'द्वैतं यथा नास्ति चिदात्मजीवयोस्तथैव भेदोऽस्ति न जीवचित्तयो, यथैव भैदोऽस्ति न जीवचित्तयोस्तथैव भेदोऽस्ति न देह कर्मणोः'**(अर्थात् ब्रह्म कारण और जीव उसका कार्य है, इसी से चिद् ब्रह्म और जीव में भेद नहीं होता। इसी प्रकार मन के कारण चेतनात्मा जीव रूप से अनुभूत होती है और कार्य-कारण सम्बन्ध के कारण चित्त और जीव में भी भेद नहीं है। जीव अपने संकल्पनात्मक रूपों से मन हो जाता है, जिसमें अनेक वासनाऐं संकल्प-विकल्प उठते-मिटते रहते हैं। मन के संकल्पों से कर्म होते हैं, जिनके फल स्वरूप अनेक देहादि आकारों वाला जगत्प्रपंच बनता है। इसी से इन्द्रियों से अनुभूत जगत में और कर्मों में भी कार्य-कारण सम्बन्ध होने से कुछ भेद नहीं है। शास्त्रों में ब्रह्म को **सत, चिद्,** और **आनन्द** मय होने से **सच्चिदानन्द** कहा है। इसी का

अंश होने से आत्मा भी सत् चिद् और आनन्द लक्षणों युक्त है। इसी सत् का अनुभव सभी को **मैं** रूप से अपने अस्तित्व का आभास सदा होता है, सुषुप्ति में यह अनुभव कारणशरीर अविद्या के प्रभाव से नहीं होता, और इसी **अज्ञान** रूप **अविद्या** का आभास होता है। जागृति और स्वप्न में हमें अपनी इन्द्रियों द्वारा पदार्थों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध रूप से **चिद्ज्ञान** होता रहता है। ज्ञान के विषय शब्द, स्पर्शादि में भिन्नता होने पर भी इन विषयों को प्रकाशित करनेवाला **ज्ञान** सदा एक ही रहता है। इसी के द्वारा सुषुप्ति में अज्ञान का भी ज्ञान होता है। जागृति और स्वप्न में मन जहां भी जाता है वहीं चिद् ज्ञान, उससे पहले पहुंचा हुवा होता है। सुषुप्ति में इन्द्रिय और मन के निष्क्रिय होने के कारण हमें विषयों का ज्ञान नहीं होता पर मन के अन्तर्मुखी होने से आत्मानन्द का अनुभव होता है । आत्मा के इसी **आनन्दमय** स्वरूप के कारण हमें अपने **स्वत्व** से सर्वाधिक प्रेम होता है। यही प्रेम हमारी **जिजीविषा** और **मृत्युभय** के रूप में हमारे स्वभाव मे रची-बसी रहती है। सांसारिक पदार्थों के प्रति हमारे प्रेम की तुलना में हमारा यह **आत्मप्रेम** अहैतुकी और निःस्वार्थ होने के कारण विशुद्ध होता है। सांसारिक वस्तुओं एवं व्यक्तियों के प्रति होने वाला हमारा प्रेम किसी न किसी स्वार्थ पर आधारित रहता है, पर आत्म प्रेम किसी कारण से प्रेरित नहीं होता है। बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से इसी आत्म प्रेम के विषय में कहते हैं, -**'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'** (वृ.उ. - **२/४/५**) (सभी उनके कारण प्रिय नहीं होते वरन् अपनी आत्मा के कारण ही प्रिय होते हैं।)

हमारी आत्मा नारियल के डाब की तरह हमारे हृदय गुहा में रहती है, यह हृदय गुहा हमारे शरीर **स्थूल शरीर** (अन्नमय कोष, प्राणमय कोष), **सूक्ष्म शरीर** (मनोमय कोष तथा विज्ञानमय कोष) और **कारण शरीर** (आनन्दमय कोष) के भीतर रहती हुवी हमारे शरीर के सर्वांग को

ऊर्जित करती है। इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि के द्वारा अप्राप्त होने वाली अपनी आत्मा का अपने अस्तित्व के आभास एवं अपने और संसार के पदार्थों के ज्ञान के रूप में तथा निद्रा के सुख और यदा कदा होने वाली तुष्टि से परोक्ष रूप में ही **सत चिद् आनन्द** के प्रकार से अनुभव होता है। आत्मा के ज्ञान के न पाने का कारण उसका न होना नहीं है, वरन् यह स्वयं **जानना** ही है। जैसे शहद या चीनी को मीठा नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वे ही **'मीठा'** रूप हैं, वैसे ही **आत्मा** भी स्वयं ही ज्ञान है। संसार की रचयिता **माया** या **प्रकृति की** अपनी **चिद्शक्ति** से ही पदार्थ साकार होते हैं। वही पंचभूतात्मक सभी पदार्थों का रूप लेकर प्रत्यक्ष होती है। विविध 'पाञ्चभौतिक' शरीरों में परमात्मा ही आत्मा रूप से प्रविष्ठ होकर सांसारिक रिश्तों के बन्धनों से जीव प्रतीत होता है। जैसे एक ही व्यक्ति अपने पुत्र के नाते **पिता** और वही अपने पौत्र के संबंध से **पितामह** पत्नी के संबंध से **पति**, भाई बहनों के संबंध से **भ्राता** आदि बंधों से बंधा होता है और न रहने पर, वह पिता, पितामह, पति, भ्राता कुछ भी नहीं होता। इसी प्रकार जब हम अविद्या जनित देह भाव से आत्मा को बद्ध जीव समझने के जीव भाव और आत्मा परमात्मा के द्वन्द भाव से मुक्त हो आत्मज्ञान पाते हैं तभी सब बन्धनों से मुक्ति पा सकते हैं।

यह जिज्ञासा स्वाभाविक ही है कि यह **आत्मज्ञान** आखिर है क्या इसे एक दृष्टान्त से समझा जा सकता है। किसी गांव के दस लोग साथ साथ जाते हुवे रास्ते में पड़ने वाली नदी को तैरकर पार कर रहे थे। नदी पार पहुचने पर उन्होंने सबको गिनना शुरु किया दसों बारी बारी से गिनते हुवे नौ तक ही पहुंचते थे और स्वयं अपने को छोड़ देते थे। इस प्रकार उन्होंने समझ लिया कि **दसवां** नदी में डूब गया है। उन्हें दुःख से विह्वल देख किसी राहगीर ने उन्हें गिनकर समझा दिया कि **दसवां** नदी में नहीं डूबा वह उन्हीं के बीच है। यह जानने पर उनका दुःख कि दसवां नहीं रहा, दूर हुवा और शान्ति मिली। **दसवें के होने पर भी नहीं होने का**

अज्ञान परोक्षता मिश्रित अपरोक्षता जैसा था, वैसा ही आत्मा विषयक अज्ञान भी है। इस दृष्टान्त में **दसवें** को अपना ज्ञान भी है और अज्ञान भी है जब कोई उन्हें बताता हैं कि दसवां तुम्हारे ही बीच है तब वह उन्हें भी प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा **सत** होने पर भी **असत** लगती है, पर ज्ञानियों के उपदेश से उसके सत का ज्ञान हो जाता है। छान्दोग्य उपनिषद में श्वेत केतु उपाख्यान में (अ.६/२/११), श्वेतकेतु के, अपने पिता आरुणि से, ब्रह्म-जिज्ञासा करने पर आरुणि ने, -'**सदेव सौम्येदग्र आसीदेकमेवद्वितीयम्**' (सौम्य! सृष्टि के पूर्व एक मात्र अद्वितीय तत्त्व सत् रूप में था) कहकर श्वेतकेतु को ब्रह्म के अस्तित्व का ज्ञान कराया तब उसी को जीव रूप से शरीरों में रहने वाला समझाकर उसे **सोऽहं** तथा **अहं ब्रह्मास्मि** की सार्थकता बताई। उपनिषदों में इसी लिये '**आत्मानं विद्धि**', '**सा विद्या या विमुक्तये**' और '**कर्मणा बध्यते जन्तु विद्ययामृतमश्नुते**' प्रकारके निर्देश और '**प्रज्ञानं ब्रह्म**', '**अहं ब्रह्मास्मि**', '**तत्त्वमसि**', '**अयमात्मा ब्रह्म**' जैसे आत्म तत्त्व की ज्ञान-प्रेरणा करने वाले महावाक्य मिलते हैं।

उपरोक्त दृष्टान्त में जैसे दसवें का ज्ञान पाकर सबका दुःख दूर हुवा और शान्ति मिली, आत्म ज्ञान का फल भी वासना का नाश होने से दुःखों से मुक्ति और शान्ति की प्राप्ति ही है। बृहदारण्यकोपनिषद् (४/४/१२) कहता है। '**आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरूषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत**'। अर्थात् अगर कोई स्वयं को पहचान कर जान ले कि '**मैं**' शरीर नहीं परमात्मा का ही अंश हूं तब वह क्यों और किसके लिये कामना कर दुःखों में पड़ेगा। तब अपनी पहिचान अजर, अमर असंग और पूर्ण परमात्मा के रूप में हो जाने पर अविद्या रूप वासना स्वयं नष्ट हो जायेगी। और उसके कारण उत्पन्न काम-क्रोध राग, द्वेष, मद, मात्सर्य जैसे षड्रिपु भी नहीं रहेंगे। आत्म तत्व के ज्ञान द्वारा अपने स्वरूप की दिव्यता का आभास होने पर न कोई

वासना रहती है और न कोई काम्य पदार्थ ही। तत्त्वज्ञान से जीव **आप्त काम** और **आत्मकाम** बन जाता है और सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। संसार में अपने अपने कर्म बन्धनों के हेतु प्राणियों का परस्पर मिलना एक संयोग मात्र ही होता है। महाभारत शान्ति पर्व में कहा है, -**'यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ। समेत्य च व्यपेयातां तद्वदभूत समागमः।।'** (जैसे जंगलों में कटान के समय काष्ठ-खण्ड नद-नदियों में बहाये जाकर बड़ी नदियों में पहुचते हैं, और वहां इकट्ठे होकर फिर अलग हो जाते हैं इसी प्रकार संसार में जीवों का समागम भी है।) ऐसी दशा में भी मनुष्य अज्ञान से ग्रस्त होकर असत को सत, दुःख दायी को सुख साधन, वासनाओं को सत्य और देह को ही महत्व देकर रहते हैं। कठोपनिषद कहता है, -**'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः । दद्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।'** (अपने अन्तर में अविद्या के रहने के कारण ही स्वयं को ज्ञानी और बुद्धिमान समझने वाले भोगों में लिप्त मूर्ख लोग, बार-बार जन्मते मरते हुवे भिन्न-भिन्न योनियों में वैसे ही भटकते ठोकरें खाते रहते हैं जैसे किसी अन्धे के नेतृत्व में जाते हुवे अन्धे लोग अपने गन्तव्य तक न पहुंच कर गिरते-पड़ते रहते हैं।) ईशावास्योपनिषदमें ऐसे ही अज्ञानियों को **आत्महंता** (आत्मा की अवहेलना करने वाला) कहा गया है, - **'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।'** (ईशो. ३)(आत्मा की अवहेलना करने वाले आत्मघाती लोग अज्ञान तथा दुःख क्लेशयुक्त लोकों में अधोगति प्राप्त करते हैं।)

हमारा मन अपनी संकल्पशक्ति के कारण असीम सामर्थ्यवान है। जैसे यह हमें सांसारिक विषयों की ओर प्रेरित करता रहता है, उसी प्रकार यह विशुद्ध होने पर आत्म-ज्ञान का साधन भी बन जाता है। आत्मा की शक्ति से ही मन शक्तिमान होता है। गीता-वचन स्पष्ट कहते

हैं, **'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च। वेदैश्च सर्वैहमेव वेद्यो वेदान्त कृद्वेदविदेव चाहम्'**। (गी.-१५/१५) (मैं आत्मारूप से मनुष्यों के अन्तर में स्थित होकर बुद्धि की स्मृति, ज्ञानप्राप्ति और इनके अपोहन (मिटने) का काम करता हूँ। मैं ही ज्ञान ज्ञेय और ज्ञान का साधन भी हूँ।) मन एक रहस्यमय अनिर्वाच्य पदार्थ है। (आधुनिक शरीर विज्ञान के अनुसार मन के **सेरिब्रल कौर्टेक्स, मैडुला** और **हाइपोथैलेमस ग्रन्थि** से होने वाले कार्य हैं।) हमारे महर्षियों ने अपने अन्वेषण से जाना कि हमारा मन वास्तव में दो भागों में बंटा है - एक **चेतन** मन जो हमें संसार का अनुभव कराता है, यही **निम्न** मन भी कहा जाता है। दूसरा **अवचेतन** मन जो **चित्त** एवं **उच्च** मन कहा जाता है।

हमारे सभी मानसिक कार्य चेतन मन तक ही सीमित रहते हैं, पर अवचेतन मन चेतन मन से अधिक व्यापक होता है इसकी क्षमता असीम है। (जिसका आकलन पूर्णतया अब भी नहीं हो पाया है।) यह माना जाता है हमारे चित्त की क्षमता का नब्बे प्रतिशत अभी भी अज्ञात है जो यदा-कदा अतीन्द्रिय शक्तियों, निसर्ग ज्ञान, (इन्सिंक्ट) जन्मान्तर स्मृतियों के रूप में, चमत्कारिक ढंग से प्रकट होती है। **गहन चिंतन** एवं **ब्रेनस्टौर्मिङ्** में जटिल समस्याओं का हल प्राप्त होना हमारे अवचेतन मन की ही क्षमता का साक्ष्य है। योग शास्त्र के प्रवर्तक महर्षि पातञ्जलि ने जान लिया था कि चेतन मन को संयत बना कर अवचेतन के द्वारा आत्मानुभव पाया जा सकता है और उन्होंने **अष्टांग योग** का आत्मा तक पहुंचने के साधन के रूप से प्रवर्तन किया। इसके अनुसार मन को विषयों से हटाकर **यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान** और **समाधि** द्वारा आत्मसाक्षात्कार किया जा सकता है। हमारा चेतन **मन** संकल्प, वासना, प्राण और अहंकार का संग्रह होने से **अहंकार मूलक संकल्प अंकुरों युक्त** वृक्ष सा है, जिसका **पोषणकर्ता प्राण** होते हैं। इसी कारण श्वास-प्रश्वास नियमन से इसे शान्त बनाना संभव होता है।

पर **चित्त** (अवचेतन मन) संस्कार, भावना, स्मृति और अनुभवात्मक ज्ञान का संग्रह होता है। जो निरन्तर काम करता रहता है। मन की वृत्तियों का शमन कर अवचेतन में पहुंचने से आत्मानन्द की प्राप्ति होना मनीषियों द्वारा कहा गया है।

ध्यान का आध्यात्मिक साधना में विशेष महत्व है, सभी साधनों में इसका दीर्घकालीन अभ्यास आवश्यक कहा गया है। गीता में, **'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते'** - द्वारा इसी का प्रतिपादन है, शंङ्कराचार्य जी ने भी **सोऽहं** या **अहं ब्रह्मास्मि** धारणापूर्वक ध्यान को अमोघ मुक्ति-साधन बताया है। उन्होंने आत्मबोध में **एवमात्मारणौ ध्यानमथने सततं कृते** कह कर इसकी उपादेयता स्पष्ट की है। महर्षि रमण भी **आज्यधारया श्रोतसा समम्** से इसकी पुष्टि करते हैं। योग विधियों में ध्यान की अनेक विधियां बताई गई है। **स्वर योग** में श्वास-प्रश्वास को इडा, पिंगला नाड़ियों में नियमित कर **मूलाधार** में **कुण्डलिनी** शक्ति को जागृत कर उसे सुषुम्ना के मार्ग से क्रमशः षट् चक्रों - **स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, निशुद्ध** और **आज्ञा** चक्रों में पहुंचा कर मस्तक में स्थित **सहस्रार** या **शून्य चक्र** में लय करना है। जो **कुण्डलिनी योग** कहा जाता है। **नादयोग** में शरीर के अन्दर प्राणों के संचार से अनवरत होने वाले सूक्ष्म एवं गम्भीर **नाद** में ध्यान कर आत्मानुभव पाने की साधना कही गयी है। **मन्त्र योग** में श्वास-प्रश्वास से स्वतः सतत चलने वाले, **हं सः** अथवा **सोऽहं** के अजपा मन्त्र में ध्यान लगा **अनहद नाद** सुनने से मन का लय होकर तन्मयता से आत्मानुभूति में सहायता होती है। इसी प्रकार **लय योग** में शाम्भवी मुद्रा द्वारा अथवा ज्योति में अपलक दृष्टि द्वारा त्राटक से मन को स्थिर किया जाता है। पर सभी साधनों में **अष्टांग योग** श्रेष्ठ माना जाता है और इसी से **राजयोग** कहा जाता है।

शंङ्कराचार्य जी ने आत्मबोध के मंगलाचरण श्लोक में ही परोक्ष रूप से मुमुक्षुओं में आत्मज्ञान-साधना की योग्यता निदेशित कर दी है, कि उनमें -

१. **कठिन तप** (मन इन्द्रियों का निग्रह) कर चित्त शुद्ध करने की प्रवृत्ति,

२. **सांसारिक मोह - त्याग** की प्रवृत्ति,

३. **मुमुक्षत्व** (मोक्ष प्राप्ति की छटपटाहट), होनी चाहिये। उन्होंने विवेक चूड़ामणि (श्लोक१८) में कहा है, -'**आदौनित्यानित्यवस्तुविवेक: परिगण्यते इहामुत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम्। शमादिषटक्सम्पत्ति मुमुक्षत्वमिती स्फुटम्॥**' अर्थात् पहला आत्मा परमात्मा की नित्यता और सांसारिक पदार्थों के नश्वरता का बोध, दूसरा इस लोक और परलोक में भोगों प्राप्ति के प्रति निरपेक्षता, तीसरा - यम (मन की शुद्धि और शान्ति), दम (इन्द्रिय निग्रह), नियम (मन को इन्द्रियों की ओर बर्हिमुखी होने से रोकना), तितिक्षा (निर्विकार होकर कष्ट सहना), श्रद्धा (शास्त्र और आप्त वचनों में आस्था), समाधान (भले-बुरे सुख-दु:खादि द्वन्दों में समत्व भाव) और चौथा - मुमुक्षत्व (मोक्ष की तीव्र इच्छा), मोक्ष साधन बताये हैं। इनमें प्रथम को **विवेक** कहा जाता है, द्वितीय को विवेक से उपजने वाला **वैराग्य** तथा तीसरे और चौथे को, विवेक तथा वैराग्य को परिपक्व बनाने वाला **विमोक** कहा जाता है।

यदि विचार किया जाय तो यही प्रतीत होता है, कि आत्म ज्ञान की साधना सरल नहीं है, गीता में श्रीकृष्ण भी मनोनिग्रह को दुष्कर मान कहते हैं। '**असंशय महावाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्**' गोस्वामी जी भी, - विज्ञानमय ज्योति वाले '**सोऽहमस्मि**' वृत्ति रूप ज्योति को अन्तर में लाने की दुरूहता को, '**कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन विवेक**', '**ज्ञान पंथ कृपान के धारा। परत खगेस होत नहिं बारा॥**' और

‘**अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम वद।**’ जैसे वचनों से स्पष्ट किया है। उपनिषदों ने भी ‘**सुरस्य धारा निशिता दुरत्यया ज्ञानस्य पन्थाः यत्कवयो वदन्ति।**’ कहकर सावधान किया है। फिर भी ‘**जनम जनम मुनि जतन कराहीं**’ जैसी लगन और निष्ठा वान् साधकों को तो यह ज्ञान इस जन्म में नहीं तो आगे मिल ही जायगा, पर ‘**पीत्वा मदिरा मोहमयीं कालोऽपि न गण्यते**’ लक्षणों वाले सामान्य लोगों को तो जैसे तैसे इसे प्राप्त ही करना होगा, चौथे पुरुषार्थ को पाने के लिये।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी देखें तो भी आत्मा हमारी **निजता** एवं **विशिष्ठता** ही होती है, जो समाज में अपने विचारों तथा कर्मों के योगदान द्वारा जानी जाती है। इसी में हमारे स्वाभाविक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक गुणों का समावेश होता है। जितना ही महत्वपूर्ण और बृहत हमारा, समाज की उन्नति में योगदान होता है उतनी ही विशिष्ट हमारी पहिचान बनती है और शरीर के पंचतत्व में लय होने पर भी हम अपनी ऐसी **आत्मा** से **कालजयी** होकर अपने **यशदेह** द्वारा अमर बन सकते हैं। हमारी आत्मा ही हमें अन्य सभी प्राणियों से विशेष बनाती है। क्योंकि **ज्ञानपिपासा** और **शाश्वत सुख** पाने की उत्कट प्रेरणामनुष्य के सिवा अन्य किसी प्राणी में नहीं होती। यही दो गुण **मनुष्यता** के वाचक भी होते हैं। इसी से शास्त्रों ने मनुष्य योनि को दुर्लभ कहा है।

इति

आध्यात्म प्रश्नोत्तर

(आध्यात्म विषयक कुछ प्रश्नों का प्रश्नोत्तर रूप से समाधान)

१. आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्रियों द्वारा अनुभव किये जाने वाले संसार को मृगतृष्णा या स्वप्न की भांति असत् कहा जाता है। ऐसा क्यों?

हमारे मनीषियों ने कहा है कि यह संसार स्वप्न में देखे पदार्थों की तरह असार है। यहां जीव अपने पूर्वकृत कर्मों के भले-बुरे फलों के भोग हेतु आता है, और फल - भोग पूरा होने पर चला जाता है। कुंवे में लगे सदा घूमने वाले रहट की तरह जीव का आवागमन होते रहने से ही यह **संसार** कहा जाता है। (संसरति इति संसार:।)

यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि जब सभी अपनी ज्ञानेन्द्रियों से सांसारिक विषयों को सुन, स्पर्श, देख, चख और सूंध कर पहचानते, मन-बुद्धि से सोचते विचारते हुवे उन्हें जानते हैं, तब वे असत् कैसे?

शङ्कराचार्य जी कहते हैं **माया** से। यदि पूछें कि माया क्या है? वे कहते हैं - **मा** अर्थात् **नहीं** और **या** अर्थात् **जो**। यानि जो होने पर भी नहीं होती, वही यह **संसार** या **जगत** है। जैसे जादू के खेल में जादूगर कभी एक रूमाल से फूलों की माला निकाल कर दिखाता है, खाली हाथ के इशारे से जिन्दा खरगोश और कितनी ही वस्तुऐं निकालता है , सिक्कों की बरसात कर देता है, वैसे ही परमात्मा की शक्ति प्रकृति भी अपने इन्द्रजाल के खेल में संसार प्रकट कर देती है। खेल पूरा होने पर कुछ भी नहीं रहता। इसी से संसार को माया या असत् कहा गया है। तुलसीदास जी ने भी माया को **'मैं अरु मोर, तोर तें माया'** बताकर उसे भेद भ्रान्ति रूपा कहा है।

दूसरी बात - सृष्टि के करोड़ों वर्षों के विकास क्रम में मनुष्य ही अन्य सभी प्राणियों से सर्वाधिक विकसित, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि की विलक्षण क्षमता सम्पन्न माना जाता है। इस पर भी संसार का ज्ञान कराने वाली हमारी ज्ञानेन्द्रियां सीमित क्षमता वाली ही प्रतीत होती हैं और पदार्थों का सम्यक ज्ञान दे सकने में असमर्थ होती हैं, वैज्ञानिकों ने भी यह पाया है कि सृष्टि में रहने वाली असंख्य स्वर-लहरों में से हमारे कान कुछ थोड़े ही स्वरों की तरंगों को सुन सकती हैं और **'अल्ट्रा-साउण्ड'** कहलाने वाली लहरें हमारे कानों की पकड़ से बाहर रहती हैं, जब कि कुत्ते, गीदड़, हिरन तथा चमगादड़ जैसे कई पशु मनुष्यों से **अधिक सुन** सकते हैं। इसी प्रकार हमारी दृष्टि भी प्रकाश की सात वर्णों की तरङ्गों तक ही सीमित है और हम **पराबेंगनी** और उससे परे तथा **अधोरक्त (इन्फ्रारैड)** और उससे निम्न प्रकाश तरङ्गों को ग्रहण नहीं कर सकते, जब कि गरुड़, बाज जैसे पक्षियों की दृष्टि हमसे तेज होती है। हमारी त्वचा भी ठंड़े-गरम तापक्रम के पहचान करनेमें गड़बड़ा जाती है, सर्प, गिरगिट, मगर, मेंढ़क जाति के पशुओं की त्वचा ताप के प्रति हमसे अधिक संवेदनशील होती है। हमारी स्वादेन्द्रिय भी सीमित क्षमता रखती है और भोजन के षट्रसों का कामचलाऊ अनुभव ही कराती है। इस प्रकार हमारी ऐसी कमजोर ज्ञानेन्द्रियां संसार की वस्तुओं का सम्यक अनुभव कराने में अक्षम होती हैं, तथा वस्तुऐं अपने यथार्थ रूप में अनुभव में आना संभव नहीं हो सकता। विज्ञान भी बताता हैं कि नीले रंग के छाते की तरह दिखने वाला आकाश न नीला है और न खुले छाते की तरह नतोदर। वायुमण्डल में सूर्य की सतरङ्गी किरणों के परावर्तन अवशोषण और बिखरने (स्कैटरिंग) से यह ऐसा प्रतीत होता है। मृगमरीचिका में जल का आभास भी प्रकाश किरणों के वायु मण्डल की पर्तों में आवर्तन-परावर्तन से ही होता है। चन्द्रमा का उदय रात्रि में ही नहीं होता, सूर्य की चमक के कारण यह दिन में लक्ष्य नहीं होता। हमारा स्थिर माना जाने वाला घर भी वास्तव में स्थिर नहीं है, यह चौबीस घंटे पृथ्वी के साथ नाचता रहता है!

इस प्रकार हम अपनी कमजोर इन्द्रियों से संसार का उतना ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जितनी इनकी क्षमता है। सत्य का अनुभव कराने की सामर्थ्य हमारी ज्ञानेन्द्रियों में नहीं होती। सत्य के अनुभव में इन्द्रियों की अक्षमता के सिवाय मन की भावनाऐं, बुद्धि के संस्कार और हमारी मान्यताओं से उत्पन्न आग्रह भी बाधक होते हैं। इसीसे वास्तविकता का ज्ञान होने की कठिनाई और संसारके यथार्थ स्वरूप के अज्ञान के कारण ही संसार असत् कहलाता है।

२. तब इस असत् संसार में अपनी सामर्थ्यहीन इन्द्रियों से 'सत्य ब्रह्म की अनुभूति' कैसे हो सकती है।

यह एक विडम्बना ही कही जा सकती है कि हम जन्म से मृत्यु पर्यन्त शरीर में रहने वाली और अपनी जन्मजन्मांतरों की साक्षी आत्मा को नहीं जान पाते। इसका कारण मुख्यत: हमारा मन ही है जो **संसार का बीज** भी कहा जाता है। असंख्य वासनाओं और संकल्पों-विकल्पों से निर्मित मन ज्ञान-इन्द्रियों की सहायता से जगत का अनुभव कराता है और कर्मेन्द्रियों को वासना पूर्ति के कर्मों में प्रेरित करता है। उन कर्मों में सफल होने पर हमें सुख और विफल होने पर दुःख का अनुभव कराता है। मन में बसा अहंकार भी इसमें अपनी भूमिका निभाता है। इस प्रकार जागृति और स्वप्न में मन हमें संसार में लिप्त रखता है। सुषुप्ति में जब मन भी सो जाता है तब अन्तर में रहनेवाली अविद्या अपने अज्ञान के प्रभाव से हमें सुप्त रखती है।

तभी शास्त्र बताते हैं कि सत्य की अनुभूति पाने को मन का नियमन आवश्यक है। गीता में **मनोनिग्रह** को समत्व बुद्धि योग का निश्चित उपाय बताया है, जिसके अन्तर्गत यम-नियमादि साधनों से मन को स्थिर बना कर विचार शून्य अवस्था में लाकर ध्यान-धारणा-समाधि संयमों से आत्मानुभूति की प्राप्ति संभव है।

साधारणत: जब मन में वासनाऐं रहती हैं, तब मन अहंकार के साथ मिल कर उनकी पूर्ति करने के लिये इन्द्रियों को कर्मों में लगाता है और उन कर्मों के इष्ट-अनिष्ट (भले-बुरे) फल प्राप्त कर अधिक वासना करता है। इस प्रकार **वासना से कर्म** और **कर्म से वासना** का अन्त-हीन **दुश्चक्र** बना कर जीव को उसी में घुमाता रहता है। यही दुश्चक्र जैसे-तैसे ज्यादा से ज्यादा शक्ति और प्रभुत्व पाने के चक्रव्यूह में फंसा देती है।

इसी कारण महर्षियों ने **मनोनाश** करने की बात की है। मनोनाश योग के बहिरङ्गों - **यम नियम, आसन प्राणायाम** द्वारा मन में शुचिता लाकर **प्रत्याहार** (विषय विराग) द्वारा होता है, और इसकी परिणति **धारणा, ध्यान** और **समाधि** से तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति के रूप में होती है। गीता इसी अवस्था को **स्थितप्रज्ञ** एवं **जीवन्मुक्त** बताती है। इस दशा की प्राप्ति असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है, और दीर्घकालीन साधना की अपेक्षा करती है।

आत्मा, परमात्मा और जगत इन तीनों के स्वरूप और परस्पर संबंधों के विषय में मनीषी और वैज्ञानिक दोनों ही सदा जिज्ञासु रहे। ऋषियों ने पंचतत्त्वों से जगत की सृष्टि होना तथा परमात्मा को सृष्टि का उपादान-कारण मानकर **ब्रह्म** को **सर्वकारणमकारणं** रूप से निरूपित किया। वहीं **कारण-प्रभाव** (कौज़-इफेक्ट) में आस्था रखने वाले वैज्ञानिकों ने संसार के पदार्थों और उन में प्रभाव शाली शक्तियों का अनुसंधान किया। वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि **कणाद** ने पूर्व काल में कहा था कि संसार के सभी पदार्थ सूक्ष्म **अणुओं** से निर्मित होते हैं। बाद में **१६**वी- **१७**वी शताब्दि में, जौन डाल्टन, वर्जीलियस जैसे भौतिक-वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध किया कि पदार्थ न केवल अणुओं से बने होते है, वरन् अणु परमाणुओं और परमाणु उनसे भी सूक्ष्म घटकों से बने होते हैं। भौतिक शास्त्रियों ने शताधिक रासायनिक तत्वों की खोज कर, सांसारिक

पदार्थों की रचना का रहस्य प्रकट कर दिया। बीसवीं सदी में महान अणु वैज्ञानिक आइन्सटीन ने अणुओं का ऊर्जा से सम्बन्ध सिद्ध किया और **सापेक्षिता सिद्धान्त** (रिलेटिविटी थ्योरी) तथा **एकीकृत क्षेत्र सिद्धान्त** (यूनिफाइड फील्ड थ्योरी), प्रतिपादित कर स्पष्ट कर दिया कि पदार्थ और शक्ति एक से दूसरे में परिवर्तनशील होते हैं। उनके एकीकृत-क्षेत्र के सिद्धान्त से भौतिक विज्ञान में **क्वान्टम फिजिक्स** नाम से एक विशेष शाखा का प्रवर्तन हुवा जिसके अन्तर्गत ब्रह्माण्ड में स्थित असंख्य शक्तियों की प्रामाणिक खोज हुवी और यह विश्वास दृढ़ हुवा कि - **पदार्थ-ऊर्जा, विद्युत-चुम्बकत्व, गुरुत्वाकर्षण** और **काल** (समय) - चार आयामों वाले एकीकृत-क्षेत्र में ही सब पदार्थ उपजते तथा लय होते रहते हैं। हमारी चेतना भी पदार्थ से परिवर्तित हो सकने वाली एक अति सूक्ष्म दैर्यता (वेवलेंथ) वाली **ऊर्जातरंग** हो सकती है। यह बात भौतिकी वैज्ञानिक 'रौजर पैनरोज' ने अपनी शोधों के आधार से कही है। वैज्ञानिक 'डेविड वोह्म' तो यहां तक कहते हैं कि - सृष्टि में एक उच्चतर व्यवस्था सम्पन्न **सत्** है - (जिसे उन्होंने **इम्प्लिकेट आर्डर** नाम दिया है) - जिससे सृष्टि में **पदार्थ** एवं **चेतना** में अभिन्नता की प्रतीति होती है।

इस प्रकार आधुनिक विज्ञान ने भी **पदार्थ, चेतना** और **परमात्मा** के रहस्य जानने का शुभारम्भ कर दिया है और हाल में जिनेवा में सम्पन्न योरुपीय नाभिकीय शोध संस्थान (**सी.ई.आर.एन.**) द्वारा **हिग्स वोसोन** की खोज इसी **ब्रह्म जिज्ञासा** की कड़ी प्रतीत होती है।

३. 'आत्मा' जीव का स्वरूप (मैं रूप पहिचान) कही जाती है, और अहंकार भी उसके अहंता रूप प्रतीत होता है - इन दोनों में कैसे अन्तर किया जा सकता है?

आत्मा ही हमारा वास्तविक स्वरूप होता है, नाम रूप वाला शरीर नहीं। शरीर, अविनाशी आत्मा को जीव की मुक्ति हेतु विकास यात्रा

में उन्नति पाने के लिये मिला, नश्वर उपकरण मात्र ही होता है। अहंकार इसी शरीर का धर्म होता है और मन में रहता है। पर आत्मा का सत् चिद् आनन्द रूप से अस्तित्व होता है। अहंकार 'मैं-मेरा' जैसे विचार से सांसारिक पदार्थों से जुड़ा रहता हुवा, भिन्न-भिन्न देश, कालादि परिस्थितियों में बदलता रहता है। यह शरीर, धन, मान, ज्ञान, परिवार, जाति, विद्या और यहाँ तक कि धर्म तथा तप से भी संयुक्त होकर स्वयं को प्रकट करता है। पर आत्मा सदा सम एक रूप आनन्द और प्रेम रूप से, संसार के पदार्थों से अलिप्त रहती है। दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से ग्रस्त होने पर अहंकार को चोट पहुंचती है और तब हम दुःख का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार वासनाओं की पूर्ति होने से अहंकार पुष्ट होता हैं और हम सुख का अनुभव करते हैं। पर आत्मा नैसर्गिक रूप से आनन्द स्वरूप होने से हमें स्वत: स्फूर्त आन्तरिक अहैतुकी सुख का अनुभव कराती है। किसी सत्कार्य के करने पर, परोपकार या दान करने में जो सूक्ष्म-सुख की अनुभूति होती है वह आत्मा से ही स्फुरित होती है। पर मन में अहंकार के रहने के कारण हम सामान्यत: अहंकार जनित विषय सुखों का ही अनुभव कर पाते हैं। मन को नियमित-संयमित करने पर ही जागृति और स्वप्न में सूक्ष्म आत्मानन्द का अनुभव कर सकते हैं। सुषुप्ति में मन के इन्द्रियों समेत आत्मा में लीन होने के कारण हम सांसारिक अनुभव न कर आत्म-सुख का ही निद्रा रूप से अनुभव पाते हैं। उस काल में मन के अन्तर्मुखी होने से समाधि जैसी दशा होती है, पर अज्ञान रहने के कारण यह निम्न दशा होती है। समाधि में योगियों को ज्ञान होने के कारण वह आत्म सुख ही होता है, उसका आभास नहीं।

आत्मा क्या है? कैसी है? यह निश्चय पूर्वक कोई नहीं कह सकता। उपनिषदों में इसे सूक्ष्म, अलक्ष्य और मन बुद्धि से परे बताकर नेति-नेति कहा है कई स्थानों पर इसे स्वयं प्रकाश चेतना, और सच्चिदानन्द स्वरूप कहा गया है। **योगी अरविन्द** भी अपने सर्वांग योगानुभव (इन्टिग्रैल

योग) में बताते हैं कि हमारी चेतना के अनेक स्तर हैं जहां ध्यान करने से समाधि द्वारा मन की विचार हीन दशा से पहुंचा जा सकता है। यही उत्तरोत्तर चेतना-स्तर शास्त्रों में वर्णित दिव्य लोक हैं। हमारा अवचेतन मन ही आत्मा है जो समाधि में स्थित होने पर उन लोकों में पहुंचा देता है। महान अमरीकी मनोवैज्ञानिक **कार्ल गुस्तव जुंग** भी लगभग इसी प्रकार कहते हैं। उनके अनुसार हमारे जन्म जन्मान्तरों के अनुभव और संस्कार **आर्केटाइप** रूप से हमारे अवचेतन मन में स्थित रहते हैं और निद्रा सम्मोहन (हिप्नोसिस) या समाधि की अवस्था में प्रकट होते हैं। इस प्रकार अज्ञात मनोकाय (साइकोसोमैटिक) व्याधियों का उपचार संभव हो सकता है। आधुनिक भौतिकी विद् मानते हैं कि जीव-चेतना और क्वान्टम भौतिकी के रहस्य परस्पर संबन्धित हैं। उनके अनुसार ब्रह्माण्ड में स्थित अनेकों ज्ञात-अज्ञात सूक्ष्म उर्जा तरंगों के समान ही चेतना भी अतिसूक्ष्म दैर्यता वाली तरंग है।

४. कर्म अनिवार्य सांसारिक धर्म माने जाते हैं, ये बन्धन कारी कैसे? ज्ञान कर्म-बन्धन कैसे खोलता है ? पढ़े लिखे लोगों में अज्ञान कैसे संभव है?

यह कहना सत्य है कि संसार कर्मभूमि है और हमें परमात्माने ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय देकर, ज्ञान पाकर विवेकपूर्वक कर्म करने को भेजा है। जिससे हमारे कर्म वासना से मलिन न हों । वासना से प्रेरित कर्म विवेक सम्मत नहीं होते और बन्धन कारी होते हैं। अविद्या या अज्ञान का स्वरूप **मैं** और **मेरा** की भावना ही होती है, जिसके कारण नाशवान शरीर में आत्मभावना होती और अकर्ता साक्षी रूप आत्मा के प्रति कर्ता होने का भाव दृढ़ होता है। जैसे **मेरा शरीर, मेरा परिवार**, और **मैंने सोचा, मैंने लिखा** आदि। इस प्रकार सांसारिक पदार्थों के प्रति और कर्मों के प्रति, अहंकार पुष्ट होने से आत्मा के अकर्ता, निरपेक्ष और साक्षी होने की भावना नहीं होती। इसके साथ ही मनसा, वाचा, कर्मणा स्वयं को कर्ता

मानने से कर्तृत्व का अहंकार उपज कर उनके इष्ट फलों की वासना को जगाता है, जिससे मन-बुद्धि अशान्त होती रहती हैं। ये ही कर्म जनित बंधन कहे जाते हैं। ये हमारी चेतना के उत्तरोत्तर विकास द्वारा दिव्यता प्राप्त करने की प्रगति में बाधक बनते हैं। और बार-बार जन्ममृत्यु रूप संसृति में बांधने वाले होते हैं।

'मैं कर्ता नहीं हूं सभी परमात्मा की प्रेरणा से होता है' - ऐसी भावना से किये कर्म अहंकार और वासना से दूषित नहीं होते और बन्धन नहीं करते। ऐसी भावना में यही विवेक निहित रहता है कि - **'मेरी सीमित सामर्थ्य के कारण कुछ भी संभव नहीं है। चेतन रूप से मेरे अन्तर में रहने वाला परमात्मा मेरी बुद्धि और मन को प्रेरणा देकर नेतृत्व करता है। जिससे ही भाव्य भावित होते हैं।'** इसी आस्था से मनुष्य सच्चे अर्थ में भक्त या ज्ञानी होता है, उसका कर्तृत्व-अभिमान दूर होता है और अन्त:करण शुद्ध होकर चेतना उच्च स्तर में पहुंचती है। यही मोक्ष-मार्ग में जाना कहा जाता है। कर्तृत्व-अभिमान से छूटने के लिये कर्मों का श्रेय परमात्मा को ही देना चाहिये और प्रशंसा-भर्त्सना के प्रति सदा निर्विकार होकर तटस्थ रहना चाहिये। ऐसी अकर्तृत्व भावना की नैसर्गिक जागृति आत्मज्ञान की ही निशानी है।

विद्या सीखने और आध्यात्मिक ज्ञान के बीच कोई संबंध नहीं होता। साधारणत: विद्या और ज्ञान पर्यायवाची माने जाते हैं और गणित, इतिहास, अर्थशास्त्र, डाक्टरी, इन्जीनियरी आदि विद्याओं से शिक्षित लोगों को ज्ञानी कहा जाता है। पर आध्यात्म में ज्ञान, विद्या का पर्याय नहीं है। विद्या सांसारिक पदार्थों के विषय में होने वाली जानकारी और जीवन यापन में उपयोगी भौतिक ज्ञान को कहा जाता है। शास्त्रों में इस प्रकार की चौंसठ विद्याओं का उल्लेख है। पर आत्मा-परमात्मा, पाप-पुण्य, बन्धन-मोक्ष और सत्-असत् को निरूपित करने वाले तत्त्व-ज्ञान

को ही ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। यही तत्त्व ज्ञान अज्ञान को दूर कर अन्त:करण को पवित्र करता है और शाश्वत आत्मसुख की प्राप्ति कराने वाला होता है। सांसारिक विद्याओं के साथ इस ज्ञान का कोई संबंध नहीं होता, बल्कि सांसारिक-ज्ञान प्राप्त मनुष्यों में **'मैं ज्ञानी हूं'** प्रकार से ज्ञानाहंकार उत्पन्न हो जाता है इसी से सभी सांसारिक विद्याऐं (इसमें धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, आदि भी सम्मिलित हैं) अहंकार जनक होने से अज्ञान ही का प्रकारान्तर होती हैं। कोई भी कोरा ज्ञान-विज्ञान, गणित, अर्थशास्त्र, इतिहास, व्याकरण, वेद, वेदान्त, सभी तत्संबंधी अहंकार उत्पन्न करने के कारण अविद्या ही हैं।

५. कर्म करने में 'अकर्तृत्व-भावना' कैसे होती है? इससे कर्म-बन्धन क्यों नहीं होते?

सभी **कार्यों** के कोई न कोई **कारण** होते हैं। बिना कारण के कोई कर्म कार्य रूप में परिणत नहीं होता। मुख्यत: कारण तीन होते हैं - एक **कर्ता**, दूसरा **करण** अथवा साधन, और तीसरा **चेष्ठा** या क्रिया। (सांख्य दर्शन में अधिष्ठान (आधार) और दैव (भाग्य), ये दो और माने गये है। (गीता. अ. १८) । उदाहरणार्थ मिट्टी से घड़ा बनाने के कर्म में - कुम्हार कर्ता, मिट्टी करण और चाक को घुमाकर मिट्टी को आकार देना क्रिया होती है।

कार्य-कारण सिद्धान्त के अनुसार **घट कार्य** के कुम्हार, मिट्टी और चाक **तीन कारण** हैं जो क्रमश: **अभिन्न** कारण, **उपादान** कारण, और **निमित्त** कारण कहे जाते हैं और इन्हीं तीनों से घड़े का निर्माण होता है। कुम्हार (अभिन्न कारण) और मिट्टी (उपादान कारण) होने से मुख्य होते हैं, और घड़े के निर्माण का श्रेय लेते हैं। पर चाक (निमित्त कारण) होने से यह श्रेय नहीं ले सकता। कुम्हार घड़े के रूप रंग आदि निश्चय करता तथा चाक को चलाने की योग्यता रखता है, मिट्टी घड़े की मजबूती

सुन्दरता आदि सुनिश्चित करती है। पर चाक कुम्हार के हाथों से घूमता हुवा उसकी ही मर्जी से काम करता है और घड़े की गढ़त, मजबूती, रूप आदि में उसका कुछ भी श्रेय नहीं रहता।

इसी प्रकार परमात्मा को इस सृष्टि को गढ़ने वाले **अभिन्न कारण** रूप महान् कुम्भकार मानते हुवे और उसी को पञ्चतत्व रूप से सृष्टि के **उपादान कारण** भी समझकर, स्वयं को उसके हाथों से चलने वाले चाक की तरह **निमित्त कारण** मान कर **अकर्तृत्व भावना** उत्पन्न हो जाती है और कर्म दूषित नहीं होते, जैसा गीता. ५/१० में कहा गया हैं, - **'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।'** अपनी जीवनावधि में हम सभी कुम्हार के चाक की तरह अपने अन्तर में रहने वाले **'ईश्वर अंश'** आत्मा की प्रेरणा से कर्म करते रहते हैं। यह भी गीता में स्पष्टतया कहा गया है -**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया।।'** (गी.-१८/६१) इसका भी यही तात्पर्य है कि हम ईश्वर के हाथों के यन्त्र बने हुवे अपने कर्मों के निमित्त कारण हैं और वे ही स्वयंअभिन्न और उपादान कारण होते हैं।

इस प्रकार से अकर्तृत्व भावना करने से स्थूल रूप में कर्तृत्व अभिमान जनित अहंकार नहीं होता और सूक्ष्म रूप में फलों कीं वासना कर्मों में नहीं रहती और फिर भोक्तृत्व भावना भी कहां से हो? जब हम कर्ता ही नहीं हैं तब कैसे फलों की इच्छा होगी, (दूसरों के कर्मों में वासना होना संभव नहीं होता)।

६. जब कर्म बन्धन कारी हैं तो कुछ भी न करना ही अच्छा, ऐसे में कर्मेन्द्रियों की क्या आवश्यकता?

अपनी संसार यात्रा को सुख पूर्वक पूरा करने और श्रेय मार्ग की प्राप्ति के लिये अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष रूप **पुरुषार्थ चतुष्टय** करने पड़ते हैं। साथ ही जीवन-निर्वाह हेतु उचित व्यवस्था भी अनिवार्य रूप से करनी

पड़ती है। तभी अपनी पूर्णायु के वैदिक संकल्प - **शतं भूयश्च शरदं शतात्** - के अनुसार पुरुषार्थ करते हुवे जीवन व्यतीत करने को और शास्त्र विहित कर्तव्य करने को ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की आवश्यकता होती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग का उपदेश देते हुवे कहा था, -'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन मा कर्मफलहेतुर्भूर्माते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥**'(गीता - **२/४७**) अर्थात् कर्म करना ही तुम्हारे अधिकार में हैं उनके फलों के विषय में विचारना नहीं, तुम्हें फल प्राप्ति के लिये ही कर्म करने की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये और न अकर्मण्य ही बनना चाहिये। कर्म फलों की वासना और भोक्ता रूप से '**कर्मफलहेतु**' बन कर '**कर्म से भोग**' और '**भोग से कर्म**' के चक्रव्यूह में फंसना दोनों ही स्वयं को कर्मों का **निमित्त कारण** मान और परमात्मा को ही उनका **अभिन्न कारण** और **उपादान कारण** मानने से नहीं होता, और इस प्रकार किये गये कर्म बन्धन कारी नहीं होते।

कर्म न करना भी दोषप्रद होता है, क्योंकि अकर्मण्यता से अन्त:करण में तामसी गुण आ जाते हैं। और तब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य रूप षड्रिपुओं के जागृत होने पर जीव की अधोगति होती है। जब अन्त:करण को शुद्ध बना कर विवेकपूर्वक शास्त्रसम्मत कर्तव्य कर्म निष्काम भावना और परोपकार की इच्छा से किये जाते हैं तब कर्म, बन्धन न होकर जीव को दिव्यता की ओर ले जाने वाले होते हैं। जो मुक्ति कही जाती है।

७. हमारे जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या है ?

प्रकृति द्वारा असंख्य जीवों की सृष्टि की गई है, और उसी के द्वारा प्रत्येक जीव को जीने के लिये विशेष गुण भी प्राप्त हैं। जीवों के विकास क्रम में उनके प्रकृति दत्त गुणों का विकास और परिष्कार होता रहा है। इसी के फल स्वरूप मनुष्य सभी प्राणियों में सर्वाधिक विकास प्राप्त

होने से सर्वोच्च स्थान पर है। जीव वैज्ञानिक **चार्लस रौबर्ट डारविन** और **ग्रेगर जोहान मेंडल** ने अपनी खोजों से सिद्ध किया कि प्राकृतिक वातावरण में अपनी परिस्थितियों के अनुकूल बनने के गुण द्वारा ही एक कोषीय जीवों से बहुकोषीय उन्नत जीवों तक पहुंचने की विकास यात्रा में उन्होंने अपने गुणसूत्रों का विकास किया और शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक क्षेत्रों में विकास पाया। मनुष्यों में विकास इन तीनों क्षेत्रों में लगभग पूरा हो गया है और अब विकास की दिशा आध्यात्मिक स्तर में चाहिये। निम्न स्तर के प्राणियों में अभी भी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास की काफी गुंजायश है।

इसी लिये मनुष्य शरीर प्राप्त करने पर आध्यात्मिक विकास द्वारा अपनी दिव्यता का बोध पाना हमारे जीवन का स्वाभाविक लक्ष्य है। यही ज्ञान मनुष्य को चेतना के उच्च तर स्तरों से क्रमश: उंचा उठाते हुवे अपने गन्तव्य, उस पूर्ण सत् को प्राप्त कराता है, जो इस सृष्टि का नियंता है। मनुष्य देह की प्राप्ति, जीव की अन्तहीन यात्रा का एक महत्वपूर्ण अंश जिसमें हमारी चेतना कितने ही शरीरों में अवतरित होकर अपनी यात्रा पूरी करती है। एक-एक जन्म उसी यात्रा के पड़ाव होते हैं। कोई भी यह नहीं जानता कि जन्म-जन्मान्तरों की यह यात्रा कब पूरी होगी, और जीव कब अपने अंशी परमात्मा में समाहित होगा। इस यात्रा को और अपने जीवन के महत्व को समझकर, भूत काल का विस्मरण कर, भविष्य की चिन्ता से विक्षुब्ध न होने और वर्तमान को महत्व देकर उसे समृद्ध कर यह यात्रा सुखद बनती है। कृत्रिमता और आडम्बर जीवनयात्रा को दु:खदायी बनाते है। हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्यता को उच्चता की ओर ले जाने वाले, नैसर्गिक जीवन साधन ही होते हैं। अपनी प्रकृति और प्राकृतिक परिवेश में स्थित रहने से ही मानसिकता, बौद्धिकता और आध्यात्मिकता में गुणात्मक योग होता है।

८. हम जीवन में सदा आनन्द का अनुभव न कर अधिकतर हताशा और निराशा क्यों अनुभव करते हैं?

आत्मा सत् चिद् और आनन्दमय होने के कारण हमें सदा आनन्द का ही अनुभव होना चाहिये, पर स्वत्व में अविद्या का आवरण रहने के कारण हमें अपने स्वरूप का अनुभव नहीं हो पाता। निर्विकार आत्मा को आवृत करने वाली अविद्या वासना, मोह, भ्रान्ति, मूढ़ता और अहंकार आदि अनेक रूपों में हमारे अन्तर में रहती है। इन्हीं के कारण हम हताशा, निराशा और उनसे उत्पन्न होने वाले दु:खों का अनुभव करते हैं। अहंकार का हमारे व्यक्तित्व को गढ़ने में महत्वपूर्ण भूमिका होती है, जैसा सामाजिक मनोविज्ञान शास्त्री बतलाते हैं। आध्यात्म-विज्ञान के अनुसार भी यद्यपि हमारी आत्मा साक्षी रूप से निर्विकार होती है, पर अन्त:स्थित अहंकार **मैं-मेरा** रूप से अपनी अस्मिता और **तू-तेरा** रूप से दूसरों के पराये पन को गिनता रहता है और स्वयं ही हमारी परिस्थितियों, सम्पर्क में आने वाले लोगों, घटनाओं - जो भी हमसे दूसरे होते हैं (यहां तक कि **दैव** के प्रति भी) अपनी तुलना में **अच्छा या बुरा** निर्णित करता है। हम अहंकार के इसी निर्णय के अनुसार **व्यवहार** करने लगते हैं। ये चार प्रकार के होते हैं -

२. मैं अच्छा तू बुरा

ऐसे स्वभाव वाले व्यक्ति अहंकारी, छिद्रान्वेषी और अविचारी प्रकृति के होते हैं। ये अपनी बात पर अड़नेवाले अपने अनुभव से कम सीखने वाले और स्वार्थपरायण होते हैं। आत्मविश्वासी प्रतीत होने पर भी ये सफलता का श्रेय स्वयं लेते और विफलता का ठीकरा दूसरों के सिर रखते हैं, इस प्रकार ये अच्छे मित्र और सहयोगी नहीं होते। ऐसे व्यक्ति मानसिक आवेग और संताप झेलते रहते हैं और असंतुष्ट भी रहते हैं। पर जब इन्हें सत् विचार प्रभावित करते हैं और ये उचित मार्गदर्शन पाते हैं, ये रचनात्मक बन जाते हैं।

२. मैं बुरा तू अच्छा

ऐसे व्यक्ति पहले प्रकार वालों के विपरीत बहुत कम आत्मविश्वास वाले होते हैं और किसी भी घटना के बारे में सोचते रहते हैं। विफलता का कारण अपने को मानने से और सफलता का श्रेय दूसरों को देने से हीन भावना ग्रस्त होते हैं। तथा **अपने दुर्भाग्य** और **पाप** का रोना रोते रहते हैं। ऐसे मन:स्थिति वाले लोग अधिकतर हताशा और अवसाद से ग्रस्त होते हैं। पर विचार-शील और भावना-युक्त होने के कारण ये अपने अनुभवों से सीखते हैं।

३. मैं बुरा तू भी बुरा

ऐसे व्यक्ति ऋणात्मक मानसिकता वाले निराशावादी और नकारात्मक प्रवृत्तियों वाले होते हैं और अपने दृष्टिकोण से सहयोगियों में आक्रोश पैदा करते है। असंतुष्टता और अव्यावहारिकता के कारण इनमें असुरक्षा की भावना रहती है तथा ये हतोत्साही स्वभाव रखते हैं और ये अकसर अवसाद ग्रस्त होते हैं।

४. मैं अच्छा तू भी अच्छा

ऐसे व्यक्ति साहसिक और दूसरों के प्रति सद्भावना रखनेवाले होते हैं। रचनात्मक होने से ऐसे व्यक्ति जीवन में आनन्द प्राप्ति की प्रवृत्ति रखते हैं। व्यक्तियों तथा कार्यों के प्रति आशावादी दृष्टिकोण रखने से ये धैर्यवान होते हैं। इनमें अहंकार की मात्रा सामान्य से अधिक होने के कारण ये सफलता के परिप्रेक्ष्य में स्वयं को अधिक योग्य मानने से घमंडी बन सकते हैं।

इस प्रकार अहंकार ही हमारे स्वभाव को रंग देता हुवा हमें जीवन में प्रेरित करता है और हमारे कार्यों को दिशा देता है। अहंकार के शमन से ही हमारे स्वभाव में इस का दु:खदायी हस्तक्षेप दूर हो सकता है और हम अवसाद और हताशा से मुक्त होकर सब परिस्थितियों में संतोष पाकर सुखानुभूति पा सकते हैं।

इति

कुछ दार्शनिक संवाद

१ - यक्ष-देव संवाद ।

(सन्दर्भ-केनोपनिषद)

संग्राम में असुरों पर विजय प्राप्त करने पर देवगण इसे अपनी महत्ता मान अभिमानी हो गये। यह विजय परब्रह्म प्रेरित असत् पर सत् अथवा अनृत पर ऋत की विजय थी, और देवता उसमें निमित्त मात्र थे। उन्हें इस वास्तविकता का बोध कराने को परमेश्वर एक महाकाय यक्ष के रूप में उनके समक्ष प्रकट हुवे। देवता उनके अद्भुत रूप को देख, उस अज्ञात यक्ष का परिचय पाने की जिज्ञासा से उनके समीप जाने को उद्यत हुवे। सर्व प्रथम परम तेजस्वी समस्त भूत पदार्थों के ज्ञाता **जातवेद अग्नि** उनके समीप गये और उन्होंने यक्ष रूपी परमेश्वर से अत्यन्त गर्वपूर्वक पूछा, - 'मैं, जातवेद नाम से प्रसिद्ध अग्नि हूँ - आप कौन हैं?'

यक्ष ने अग्नि से पूछा - 'तुममें क्या सामर्थ्य है ?'

अग्नि ने उत्तर दिया -'इस सृष्टि में जो कुछ है, उसको यदि मैं चाहूं तो जलाकर भस्म कर सकता हूँ।'

यह सुनकर यक्ष ने उसके सामने एक तृण रख कर कहा, 'इसको जलाकर दिखाओ'।

अग्निदेव अपनी सारी शक्ति लगाकर उस पर टूट पड़े पर उसे जलाने में असमर्थ होकर लौट गये।

तदनन्तर अत्यन्त वेगवान् सर्वत्रगामी मरुतदेव यक्ष के पास गये, और गर्व से बोले, मैं जीवों का प्राण मातरिश्व (अन्तरिक्ष में विचरने वाला) नाम से प्रतिष्ठित वायु हूँ आप कौन हैं?'

यक्ष ने वायु से पूछा - 'तुम्हारी क्या सामर्थ्य है?'

वायु ने उत्तर दिया - 'यदि मैं चाहूं तो सृष्टि में जोभी पदार्थ है, उन्हें उड़ा कर आकाश में पहुंचा दूं।'

यक्ष ने उनके सामने भी एक तृण रखकर कहा, 'इसे उड़ा दो'।

वायु ने प्रभंजन रूप से अपनी सारी शक्ति लगाकर उस तृण को उड़ाने का प्रयास किया, पर असफल होकर वे भी लौट गये।

देवों में परम तेजमय अग्नि तथा शक्तिशाली वायु को विफल होकर लौटा देख चकित देवराज इन्द्र स्वयं यक्ष का परिचय पाने को उद्यत हुवे, और यक्ष के पास पहुंचे। परन्तु वह यक्ष वहां से अन्तर्धान हो गया, और परमेश्वर की शक्ति रूपा हिमवान पुत्री उमा वहां इन्द्र के सम्मुख प्रकट हुवीं उन्होंने लज्जित इन्द्र को यक्ष के रहस्य का उद्घाटन किया और परमेश्वर के यक्ष रूप में आने का मन्तव्य कहा। देवगण परमेश्वर की महत्ता एवं अनुग्रह को, दानवों पर हुवी विजय का हेतु जानकर तत्त्वज्ञानी और सर्वश्रेष्ठ बने।

हम 'अहंकार' वश स्वयं को सामर्थ्यवान और कर्ता मान कर मोह और कर्मबन्धन से बंध जाते है। परमात्मा को सृष्टि कर्ता रूप अभिन्न कारण और पञ्चतत्त्व एवं ऊर्जारूप उपादान कारण तथा स्वयं को अपने अन्तर में स्थित आत्मारूप परमात्मा के इशारे से चलने वाले यन्त्र की भांति निमित्त कारण मानकर कर्तव्य करने से, अहंकार मुक्त हो सकते हैं।

२ - प्रजापित- देव,मनुष्य और असुर संवाद ।

(सन्दर्भ-बृहदारण्यक उपनिषद-अ.५ द्वितीय ब्राह्मण)

प्रजापति के तीनों पुत्र **देव, मनुष्य** और **असुर** पिता के समीप ब्रह्मचारी शिष्योंके रूप में शिक्षोपदेश की प्राप्ति हेतु पहुंचे। देवों ने व्रत की समाप्ति पर पिता प्रजापति से कहा, 'कृपा कर हमें उपदेश दीजिये'।

प्रजापति ने उनसे '**द**' शब्द कहा, और पूछा, 'समझ गये क्या?'

देवों ने उत्तर दिया, 'हां समझ गये'। आपने हमें **दमन करो** कहा है।

प्रजापति ने कहा, 'तुम ठीक समझ गये हो।'

फिर मनुष्यों ने पिता प्रजापति से कहा, 'कृपा कर हमें उपदेश दीजिये।'

प्रजापति ने उनसे भी **'द'** शब्द कहा, और पूछा 'समझ गये क्या?'

मनुष्यों ने उत्तर दिया, 'हां समझ गये' आपने हमें **दान करो** कहा है।

प्रजापति ने कहा, 'तुम ठीक समझ गये हो।'

फिर असुरों ने पिता प्रजापति से कहा, 'कृपा कर हमें उपदेश दीजिये।'

प्रजापति ने उनसे भी **'द'** शब्द कहा, और पूछा 'समझ गये क्या?'

असुरों ने उत्तर दिया, 'हां समझ गये' आपने हमें **दया करो** कहा है।

प्रजापति ने कहा, 'तुम ठीक समझ गये हो।'

प्रजापति की दिव्य वाणी आज भी मेघ गर्जना के रूप में **द-द-द** रूप से प्रतिध्वनित होती हुवी उपदेश देती है - **'भोग कामनायुक्त देवो ! इन्द्रियों का दमन करो ! 'भोग पदार्थ संग्रह प्रवृत्ति वाले मनुष्यो ! भोग्य पदार्थों का दान करो ! 'क्रोध एवं हिंसाचारी असुरो ! प्राणियों पर दया करो' !**

भगवान श्रीकृष्ण भी इनको नरक का द्वार और विनाशकारी बताकर **काम, लोभ** और **क्रोध** के त्याग करने की शिक्षा देते हुवे गीता में कहते हैं, - **'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत॥'** (गीता-अ. १६ श्लोक २१।)

३ - याज्ञवल्क्य - मैत्रेयी संवाद ।

(सन्दर्भ-बृहदारण्यक उपनिषद-अ.२ चतुर्थ ब्राह्मण)

महर्षि याज्ञवल्क्य की कात्यायनी और मैत्रेयी दो पत्नियां थीं। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी और **ब्रह्मजिज्ञासा** में अपना समय व्यतीत करती थी, कात्यायनी ही गृहस्थी की संभाल करती थी। जब याज्ञवल्क्यजी ने गृहत्याग कर सन्यास वृत्ति ग्रहण करने का निश्चय किया, उन्होंने मैत्रेयी से कहा मैं सन्यास लेकर, घर छोड़ रहा हूँ, और सम्पत्ति को तुम्हारे और कात्यायनी के बीच बांटना

चाहता हूँ। विदुषी मैत्रेयी ने यह सुनकर प्रश्न किया, 'क्या मुझे यह धन अथवा पृथ्वी का सम्पूर्ण वैभव पाकर, अमरत्व की प्राप्ति हो जायेगी ?'

याज्ञवल्क्य जी ने उत्तर दिया, 'नहीं, इससे तुम्हारा जीवन धनवानों की तरह समृद्ध हो जायगा, इससे अमरत्व प्राप्ति की आशा नहीं होती।'

यह जानकर मैत्रेयी ने कहा, 'तब मैं उस धन का क्या करुंगी जिससे मुक्ति रूप अमरत्व न प्राप्त हो सके। आप कृपा कर मुझे मोक्ष साधक ज्ञान ही दीजिये।'

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'तुम मुझे सदा प्रिय थी, पर तुम्हारे विचार सुनकर मैं अतिप्रसन्न हूं। यदि तुम मुक्ति का साधन जानना चाहती हो तो मैं उसकी विवेचना करता हूं।'

'प्रिये, वास्तव में पति के लिये पति प्रिय नहीं होता, अपितु स्वयं आत्मा के लिये ही वह प्रिय होता है। पत्नी के लिये पत्नी प्रिय नहीं होती, अपितु स्वयं के लिये ही पत्नी प्रिय होती है। पुत्र के लिये पुत्र प्रिय नहीं होता अपितु स्वयं के लिये ही पुत्र प्रिय होता है। हे मैत्रेयी ! यह आत्मा ही ज्ञानप्राप्ति हेतु **दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय** एवं **निदिध्यासनीय** है।'

'यह संसार, इसके सभी पदार्थ, देव, वेद, ब्राह्मण, क्षत्री आदि सब आत्मा के ही भिन्न-भिन्न रूपान्तर हैं। अत: किसी में भी भेद दृष्टि न रख सम्यक आत्म-दृष्टि रखना ही विवेक है। जैसे नगाड़े, शंख, वीणा आदि वाद्योंकी ध्वनियों में निहित विभिन्न स्वर लहरियों की अलग-अलग पहिचान नहीं हो पाती, पर वे निश्चय ही उन वाद्यों के शब्दों में विद्यमान रहते हैं। जैसे गीले ईंधन को जलाने से भिन्न-भिन्न प्रकार का धुंवा निकलता है। उसीप्रकार, प्रिये ! उस महान् परमात्मा के श्वसन से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराण, सभी विद्याऐं, उपनिषद, सभी श्लोक, सूत्र, भाष्य, व्याख्या, यज्ञाहुति, खाद्य, पेय, यह सारी सृष्टि आभिर्भूत है। सृष्टि के सभी नाम-रूपात्मक पदार्थ उसी एक मात्र ब्रह्म के ही विवर्तित सत् रूप हैं। उनमें द्वन्दात्मक भेद दृष्टि से ब्रह्म से भिन्न समझना अज्ञान जनित भ्रान्ति है।'

'जैसे सभी जलों को एकीकृत करने वाला समुद्र है, उसी प्रकार सब स्पर्शों का त्वचा, सब गन्धों का नासिका, सब रसों का जिह्वा, सब रुपों का चक्षु, सब शब्दों का श्रवण, सब संकल्पों का मन, सब विद्याओं का हृदय, सब कर्मों का हाथ, सब आनन्दों का उपस्थ, सब विसर्जनों का गुदा, सब निष्क्रमणों का पाद और सब वेदों का वाणी होते हैं।'

'जैसे एक नमक के कण को जल में डालने पर वह पूर्णत: जल के साथ एकाकार हो जाता है उसे जल से विलग कर उसी रूप में पाना किसी प्रकार संभव नहीं होता और सारा जल लवण के स्वाद वाला हो जाता है, पर लवण के कण का अस्तित्व नहीं रहता। प्रिये ! इसी प्रकार, उस एक अनादि, अनन्त विज्ञानघन तत्त्व से, ब्रह्म के समष्टि सत् चेतना के अंश रूप सभी भूत समुदाय उदय होते हैं, और व्यष्टि रूप से स्थित हो अन्त में उसी समष्टि में लय होते हैं। उसी परम तत्त्व के द्वन्दात्मक अज्ञान के कारण जीव स्वयं शरीरभान तथा भूख-प्यास, सुख-दु:ख, आशा-निराशा, जन्म-मृत्यु आदि अविद्यात्मक द्वन्दों में पड़ जाता है।'

मैत्रेयी बोली, -'भगवन् ! आपने पहले कहा कि आत्मा समष्टि रूप शुद्ध, विज्ञानघन चेतना है, और फिर उसी को जीव रूप में व्यष्टि रूप से प्रकट अज्ञानग्रस्त और द्वन्दों में पड़ा हुवा बतलाते हैं । मैं चकित हूँ, और आपके कथन को समझ नहीं पा रही हूँ।'

याज्ञवल्क्य जी बोले, 'प्रिये मैत्रेयी ! मैंने कोई भ्रम में डालने वाली बात नहीं कही है। मैंने जो कहा वही तत्त्व-ज्ञान है। आत्मा और परमात्मा में भिन्नता मानना, देह के धर्म को आत्मा के मानना ही द्वैत-रूप अज्ञान है । जब द्वैत भाव रहता है, तब सूंघने, देखने, सुनने, बोलने, विचारने, जानने की क्रियाऐं भेद भावना से एक के द्वारा दूसरे के प्रति होती हैं, पर जब सब के अन्तर में रहनेवाली आत्मा को एक ही समष्टि चेतना रूप परमात्मा काअंश मान लेने पर कौन किसको किस प्रकार सूंघता, देखता, सुनता, बोलता, विचारता और जानता है। ऐसे में जब सब आत्मा ही होते हों, तब उसे जो सबका **ज्ञाता** और **ज्ञान** ही होता है उसे कोई किस प्रकार जान सकता है। मैत्रेयी ! यही तुम्हारा अभीप्सित ज्ञान है।'

४ - जड़भरत - सौवीर नरेश संवाद।

(सन्दर्भ-अग्निपुराण)

जड़भरत महान आत्मज्ञानी ब्राह्मण थे, अपने पूर्व जन्म में एक मातृहीन मृगशावक के प्रति आसक्ति के कारण उन्हें मृगयोनि प्राप्त हुवी थी। मृगशरीर को त्यागने के बाद उन्हें, **'प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।'** गीता-**६/२१** के अनुसार एक अभिजात ब्राह्मण कुल में उनका जन्म हुवा। अपने पूर्व जन्मों के पुण्यसंस्कारों के कारण वे सदा आत्मरत योगी के समान जीवन्मुक्त की भांति विचरण करते रहते थे, जिससे लोग उन्हें विक्षिप्त मान उनसे दूर रहते थे, और उनके लौकिक जड़ ज्ञानशून्य एवं मूक व्यवहार के कारण तथा उनके **आत्मज्ञान** से अनभिज्ञ होने से, उनको **जड़भरत** कहते थे और सौवीर राज्य में वे इसी नाम से जाने जाते थे।

एक बार सौवीर राज्य के कर्मचारी राजा की पालकी ढोने के लिये कुछ हृष्ट-पुष्ट कुलियों की खोज कर रहे थे, कि उन्हें सुगठित शरीरवाले, अपनी धुन में मस्त विचरण करते, जड़भरत दिखाई पड़े। उनको पकड़ कर राजा की पालकी ढोने में लगा दिया, और वे अपने प्रारब्ध का भोग करने के लिये राजा की पालकी ढोने लगे। पालकी में पीछे की तरफ लगे हुवे, वे गति मन्द होने तथा पालकी के अन्य तीन कहारों से तालमेल न होने के कारण पालकी हिचकोले लेती रही और अन्दर बैठे राजा को असुविधा हुवी। यह लक्ष्य कर राजा ने जड़भरत की और देख कर कहा, ' अरे तू मोटा-तगड़ा, होने पर भी अभी थक गया? क्या तूने कभी परिश्रम नहीं किया?'

जड़भरत ने उत्तर दिया, 'महाराज ! न **मैं** मोटा, तगड़ा हूँ, न **मैं** ने आपकी पालकी ढोई है, न **मैं** थकता हूं और न **मैं** ने कोई परिश्रम किया है।

सौवीर नरेश कुछ क्रोध से बोले, क्या बकता है, बोझ से घबरा गया है क्या?

जड़भरत फिर बोले, 'महाराज, **मैं** बकता नहीं हूं, न **मुझ** पर कोई बोझ ही है। न **मैं** घबराता हूं। पृथ्वी पर **मेरे** दोनों पैर हैं, पैरों पर जङ्घायें, जङ्घाओं पर ऊरू और ऊरुओं पर उदर है। उदर के ऊपर भुजाऐं और कन्धे हैं, और कंधों पर यह पालकी रखी है, जिसपर **आपका** कहा जानेवाला शरीर है। इसमें ढोने वाला **मैं**, कहां है? राजन्! यह कहना कि **आप पालकी में हैं और मैं ढो रहा हूँ**, भ्रम है। **मैं** आप और संसार के अन्य सभी जीवों का भार शरीर रूप पञ्चभूतों के द्वारा ही ढोया जा रहा है, और ये पञ्चभूत भी सत्व, रज और तम गुणों के प्रवाह में पड़कर कर्मों के अधीन रहते हुवे चल रहे हैं। कर्म भी अविद्या द्वारा संचित होते हैं, जो सभी जीवों में विद्यमान रहती है। **मैं** तो शुद्ध, शान्त, निर्गुण, अविनाशी, अज, अमर, अकर्ता और प्रकृति से परे है। वह परमात्मा का अंश है और एक-रस रूप से सब जीवों में रहता है न उसकी वृद्धि होती है न ह्रास। तब आप यह कैसे कहते हैं - **मैं** मोटा-तगड़ा हूं? यदि पृथ्वी, पैर, जङ्घा, ऊरू, उदर, वक्ष, भुजा और कंधे पर रखी, यह पालकी मेरे लिये भार रूप हो सकती है, तो यही बात आप पर भी तो लागू होती हैं! तब तो इस युक्ति से एक ही **मैं** आत्मा सब में होने से, सभी जीवों ने न पालकी ही उठा रखी है, पर्वत, पेड़, घर और पृथ्वी आदि का भी भार अपने ऊपर ले रखा है। महाराज! विचार कीजिये जब प्रकृति के उपजाए साधनों से **पुरुष**, सर्वथा भिन्न है तब **मैं** कौन सा भार वहन करता है? जिन तत्त्वों से यह पालकी बनी है, उसी से मेरे, आपके और संसार के सभी जीवों के शरीरों का भी तो निर्माण हुवा है, और वही समान द्रव्यों से उनका पोषण भी हुवा है।

यह सुनकर सौवीर नरेश पालकी से उतर पड़े और जड़भरत के चरण पकड़ कर उनसे क्षमायाचना कर बोले, 'भगवन्! आप कौन हैं? कहां से आये हैं? पालकी को छोड़ कर मुझ पर अनुग्रह कर मुझे उपदेश दीजिये।'

जड़भरत ने फिर कहा, 'महाराज! सब प्राणियों के अन्तर में समान रूप से रहने वाले **मैं** का क्या परिचय हो सकता है? **मैं** तो आप में मुझमें इन कहारों में अंगरक्षकों में वृक्षों में सभी जीवों में एक ही है। नाम-रूप, परिचय तो नाशवान शरीरों के होते हैं। जहां तक आने जाने का प्रश्न है, उसके लिये बस यही कहा जा

सकता है कि, प्रारब्ध के भोग के लिये **मैं** भिन्न-भिन्न शरीरों में अवतरित होकर सुख-दुख भोगता हुवा संसार में संसरण करता और कर्मफलों के क्षय होने पर अपने अंशी परमात्मा में समाहित हो जाता है।

राजा ने प्रश्न किया, भगवन् ! कर्ता-भोक्ता से प्रतीत होनेवाले **मैं** को अहं मानना क्या गलत है?

जड़भरत ने उत्तर दिया, महाराज ! आत्मा के लिये अहम् कहना दोषपूर्ण नहीं है। पर अनात्म-शरीरों को आत्मत्व का बोध कराने वाले **अहम्** अथवा **मैं** संज्ञा देना भ्रमात्मक और अज्ञानप्रेरित ही है। जब सभी शरीरों में एक ही आत्मा स्थित है, तब कौन आप? और कौन मैं? जिस वृक्ष की लकड़ी से यह पालकी बनी है, जिस पर आप बैठे हैं, महाराज ! इसका वृक्ष और लकड़ी नाम क्या हो गया? कोई भी यह नहीं कहता महाराज, 'वृक्ष' या 'लकड़ी' पर बैठे हैं। सभी आपको पालकी पर बैठा कहते हैं। पर पालकी क्या है? लकड़ियों के समूह को काट छांट कर, बना एक विशेष आकार! यदि आप इसे भिन्न वस्तु मानते हैं तो इसमें से वृक्ष और लकड़ियों को दिखाईये तो! पुरुष,स्त्री, गौ, घोड़ा, हाथी, पक्षी, वृक्ष आदि सभी कर्म-जनित भिन्न-भिन्न शरीर ही तो हैं, जिन्हें लोगों ने अलग-अलग नाम दे दिये हैं। अत: ये रूप और नाम कल्पित ही हैं। जिह्वा, ओष्ठ, तालु और कण्ठ **अहम्** उच्चारण करते हैं, इनमें से आप किसको **अहम्** मानेंगे? अहम् तो शरीर के सभी अंगों से भिन्न सत्ता है।

इस प्रकार सौवीर नरेश ने जड़भरत से आत्मज्ञान की प्राप्ति कर श्रेय मार्ग प्राप्त किया।

५ - अष्टावक्र - जनक संवाद ।

(सन्दर्भ-अष्टावक्रगीता)

मिथिलाधीश राजा जनक ब्रह्मतत्त्व के जिज्ञासु साधक थे। विश्वामित्र जैसे ज्ञानी महर्षि का उन पर अनुग्रह था। उनके दरबार में ब्रह्मचर्चा एवं शास्त्रार्थ नियमित रूप से होते थे। वहीं अष्टावक्र एक ब्राह्मण के घर में उत्पन्न हुवे थे मिथिला के दरबार में शास्त्रार्थ में पराजित होने के कारण उनके पिता का अपमान

हुवा था। अष्टावक्र शरीर से जन्म-जात विकलांग थे और उनका शरीर आठ स्थानों से वक्र (टेढ़ा) होने के कारण उन्हें अष्टावक्र नाम से प्रसिद्धि मिली पर अपने पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण वे जन्मना तत्त्वज्ञानी और जातस्मर थे। तत्त्वज्ञानी होने पर भी उन्होंने विधिवत गुरुकुल में अध्ययन किया और अल्पकाल में ही अपने ज्ञान की श्रीवृद्धि की, तथा माता से मिथिला के दरबार में जाकर शास्त्रार्थ में भाग लेने की आज्ञा मांगी। माता के समझाने पर भी, इनकी उत्कट इच्छा जान, माता ने इन्हें आज्ञा देदी और ये अपने कुब्ज शरीर को लचकाते हुवे राजा जनक के दरबार में पहुंचे। वहां इनको देखकर राजा समेत सभी हंसने लगे और इनके शास्त्रार्थ करने के मन्तव्य को जान व्यंग करने लगे। पर अष्टावक्रजी निर्विकार रहे और उन्होंने दरबार के प्रवेशद्वार से ही शान्ति पूर्वक राजा को संबोधित कर कहा, 'मैं तो समझता था कि विदेहराज की सभा में कुछ ज्ञानी पण्डित भी होंगे, किन्तु यहां तो सभी **चर्मकार** लग रहे हैं?'

राजा जनक ने आश्चर्य से पूछा, 'ब्रह्मन् ! यहां तो सब श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ एवं शास्त्रज्ञ पण्डित उपस्थित हैं। आप उन्हें चर्मकार कैसे कहते हैं?'

अष्टावक्रजीने उत्तर दिया, 'विदेहराज ! आत्मा तो निर्विकार, नित्य, शुद्ध और बुद्ध है, वही मैं हूं। विकृति शरीर की होती है जो उसका आवरण मात्र है। जैसे घट या मठ के टेढ़ा होने से उनके भीतर का आकाश-घटाकाश, मठाकाश -टेढ़ा नहीं होता उनके गोल, आयत अथवा अण्डाकार होने से वह आकाश वैसा ही नहीं हो जाता । घट और मठ तो अवयव युक्त हैं, और आकाश निरवयव होता है। इसी प्रकार आत्मा का शरीर के धर्मों के साथ कोई संबंध नहीं होता। जो आत्मा को इस प्रकार से जानता है वही पंडित कहलाने योग्य होता है। पर यहां तो सभी चर्म से ढंकी देह के ज्ञानी प्रतीत हो रहे है, आत्मा के ज्ञानी नहीं, चर्म का ज्ञाता चर्मकार नहीं तो क्या है?'

यह सुनकर राजा जनक और उपस्थित ब्राह्मण शर्मिन्दा हुवे और उन्होंने अष्टावक्रजीसे क्षमा याचना की, राजा जनक ने उनकी अभ्यर्थना कर, कुछ दिन राजमहल में टिक कर उनसे आत्मदृष्टि जागृत करने वाले ज्ञान का उपदेश देने की प्रार्थना की। राजा का आग्रह स्वीकार कर उन्होंने राजा जनक को **अष्टावक्रगीता** के रूप से संग्रहीत ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया।

६ - याज्ञवल्क्य - गार्गी संवाद ।

(सन्दर्भ-बृहदारण्यक उपनिषद् अ ३ ब्राह्मण २–८)

विदेह राज जनक ने भूरिदक्षिणायुक्त एक यज्ञ का आयोजन किया। जिसमें कुरु एवं पांचाल देशों के ब्रह्मवेत्ताओं समेत अनेक ब्राह्मण उपस्थित थे। उत्कृष्ट ब्रह्मज्ञानी को पुरस्कृत करने हेतु जनक ने एक हजार गौऐं, प्रत्येक के सींग में १० पाद (लगभग ०.३५३ ओंस) सोना मढ़ा हुवा था, गौशाला में रखी थी। उन्होंने आमंत्रित ब्राह्मणों को संबोधित कर कहा, 'आप में जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता मान्य हो वह इन सब गायों को ले जाय'।

वहां उपस्थित सभी ब्राह्मण शान्त बैठे रहे। तभी याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य सामश्रवस को बुलाकर आज्ञा दी, 'सोम्य ! इन सभी गायों को हांककर आश्रम में पहुंचाओ'। सामश्रवस के गुरु की आज्ञापालन करने पर, अन्य सभी ब्राह्मण क्रुद्ध होकर बोले, 'यह याज्ञवल्क्य सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता होने का दावा, कैसे कर सकता है।' इस पर वहां यज्ञ के होता बने राजा जनक के पुरोहित अश्वल ने उपेक्षा पूर्वक प्रश्न किया, 'याज्ञवल्क्य ! क्या तुम्हीं हम सभी में श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो?' याज्ञवल्क्य ने नम्रतापूर्वक कहा, 'हम श्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ को नमस्कार करते हैं। यहां तो हम गायों की कामना से उपस्थित हैं।' तब अश्वल ने उनसे यज्ञ एवं आध्यात्म संबधी कुछ प्रश्न पूछे। अश्वल को चुप करने के बाद जरत्कारु के वंशज आर्तभाग ने, लाह्यायन के पौत्र भुज्यु, चक्र के पुत्र उषस्त, कौशीतक के पुत्र कहोल ने अनेक प्रश्न पूछे। सबका समाधान करने के बाद ऋषि वाचक्नु की विदुषी पुत्री गार्गी ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया, -

गार्गी -' यदि सृष्टिमें सब जल से ओत-प्रोत है, तो जल किससे ओत-प्रोत है?'

याज्ञवल्क्य -' हे गार्गी, वायु से।'

गार्गी -'वायु किससे ओत-प्रोत है ?'

याज्ञवल्क्य -'हे गार्गी ! अन्तरिक्ष लोक से'।

इसी प्रकार गार्गी द्वारा जिज्ञासा किये जाने पर याज्ञवल्क्य ने अन्तरिक्ष लोक गन्धर्व लोक से, गन्धर्व लोक आदित्य लोक से, आदित्य लोक चन्द्र लोक से, चन्द्र लोक नक्षत्र लोक से, नक्षत्र लोक देव लोक से, देव लोक इन्द्र लोक से, इन्द्र लोक प्रजापति लोक से और प्रजापति लोक ब्रह्म लोक से ओतप्रोत बतलाया।

गार्गी ने तब पूछा, -'ब्रह्म लोक किससे ओतप्रोत है?'

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'हे गार्गी ! तू अधिक जिज्ञासा मत कर, कहीं तेरा सिर न फिर जाय । क्योंकि तू सब प्रश्नों से परे ज्योतिर्मय **सर्वकारणमकारणं** ब्रह्म के संबंध मे संदेह कर रही है। और तब गार्गी चुप हो गयी।

गौतम गोत्रीय अरुण के पुत्र, उद्दालक ने याज्ञवल्क्य से आध्यात्म संबंधी प्रश्न पूछने हेतु भूमिका बांधते हुवे कहा, 'याज्ञवल्क्य ! हम मद्रदेश में यज्ञ शास्त्र का अध्ययन करते हुवे कपिल गोत्रीय पतञ्जल के घर में रहते थे, जिसकी भार्या गन्धर्वग्रस्त थी। हमने उस गन्धर्व से पूछा तू कौन है। उसने अपने को अथर्वण पुत्र कबन्ध बतलाया। उसने पतञ्जल और याज्ञिकों से पूछा, 'क्या तुम उस सूत्र को जानते हो, जिसके द्वारा यह लोक, परलोक और सारे भूत प्राणी ग्रथित हैं।' पतञ्जल ने कहा, 'भगवन् ! मैं उसे नहीं जानता,' गन्धर्व ने फिर पूछा, 'क्या तुम उस अन्तर्यामी को जानते हो, जो इस लोक, पर लोक और सभी भूत प्राणियों के अन्तर से नियमन करते हैं'। पतञ्जल ने फिर कहा, 'भगवन् ! मैं उसे भी नहीं जानता'। गन्धर्व ने उससे कहा, 'जो उस सूत्र और उस अन्तर्यामी को जान लेता है, यही ब्रह्मवेत्ता, लोकवेत्ता, देववेत्ता, वेदवेत्ता, भूतवेत्ता, आत्मवेत्ता और सर्ववेत्ता है।' गन्धर्व ने उन्हें, यह ज्ञान बतलाया था। उद्दालक ने याज्ञवल्क्य से कहा, - 'यदि तुम उस सूत्र को और अन्त:स्थित नियन्ता को न जाकर भी ब्रह्मज्ञानियों के लिये अभिप्रेत उन गायों को ले जाओगे तो तुम्हारे शिर का पतन हो जायगा'। याज्ञवल्क्य के कहने पर कि, -'हे गौतम ! मैं उस सूत्र और अन्तर्यामी को जाता हूँ।'

उद्दालक बोले, -'ऐसे मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ, कोई भी कह सकता है, यदि तुम्हें वास्तव में उसका ज्ञान है तो, क्या जानते हो कहो।'

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'गौतम! वायु ही वह सूत्र है। वायु रूप सूत्रके द्वारा यह लोक, परलोक और सब भूत समुदाय परस्पर गुंथे हुवे हैं, हे गौतम ! तभी मनुष्य के मृत होने पर कहा जाता है उसके अंग ढीले हो गये है, क्योंकि वे प्राण रूप वायु से ही परस्पर ग्रथित होते हैं।'

उद्दालक ने कहा, 'हे याज्ञवल्क्य! सही है, अब अन्तर्यामी की बात करो।'

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'वह सत्ता जो पृथिवी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष लोक, वायु, स्वर्ग, आदित्य, दिशा, चन्द्र, नक्षत्रादि, आकाश, तमस, ज्योति, में स्थित उसी के अन्तर में रहती है, पर जिसे ये नहीं जानते। ये सभी उसका ही शरीर है जिसका वह इनके अन्तर से नियमन करता है, वही अन्तर्यामी अमर आत्मा है। यह उसका **आधिदैविक** स्वरूप कहा है। अब मैं तुम्हें उसका **आधिभौतिक** स्वरूप भी कहता हूँ।'

'जो प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा, बुद्धि , वीर्य में स्थित उन्हीं के अन्तर में रहता है, पर जिसे ये सभी नहीं जानते। पर वे ही उसका शरीर हैं और उन्हीं के अन्तर में वास करता हुवा वह उनका नियमन करता है, वही अन्तर्यामी अमरात्मा है। वही अदृष्ट होती हुई द्रष्टा, अश्रुत होने पर भी श्रोता, अमन होने पर भी मननशील, अज्ञात होने पर भी सर्वज्ञाता है। इसका कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता, कोई नहीं है। यही अन्तर्यामी अमरात्मा है। इसको छोड़कर अन्य सभी नाशवान हैं।'

याज्ञवल्क्य का उत्तर सुनकर अरुण पुत्र उद्दालक चुप हो गया। तब वाचक्नु पुत्री गार्गी सब उपस्थित पंडितों को संबोधित कर बोली, -'पूज्य ब्राह्मण गणो ! अब मैं इनसे दो प्रश्न पूछना चाहती हूँ, यदि ये मेरे उन प्रश्नों का उत्तर दे देंगे, तो फिर आपमें से कोई भी इनसे ब्रह्म-सम्बन्धी वाद में नहीं जीत सकेगा।'

ब्राह्मणों ने सहमत हो, एक स्वर से कहा, -'अच्छा गार्गी! पूछ'।

गार्गी ने याज्ञवल्क्य को लक्ष्यकर कहा, -'जैसे कोई काशी या विदेह राज्य का क्षत्री वीर अपने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर शत्रुओं को पीड़ित करने

वाले दो बाणों को हाथ में लेकर खड़ा होता है, मैं उसी प्रकार दो प्रश्न लेकर आपके सम्मुख उपस्थित हूँ, कृपया मुझे उत्तर दें।'

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'पूछो गार्गी ।'

गार्गी ने कहा, -'हे याज्ञवल्क्य ! जो स्वर्ग लोक से ऊपर है, जो पृथ्वी से नीचे है, और जो पृथ्वी और स्वर्ग दोनों के बीच में है, जिसको भूत, वर्तमान और भविष्य कहा जाता है - वह किसमें ओत-प्रोत है'।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'गार्गी ! जो स्वर्ग लोक से ऊपर, पृथ्वी से नीचे, और पृथ्वी तथा स्वर्ग दोनों के मध्य स्थित है, जिसे भूत, वर्तमान और भविष्य कहा जाता है वह आकाश में ओत-प्रोत है।'

गार्गी ने उत्तर सुनकर कहा,-'याज्ञवल्क्यजी ! मैं आपको नमस्कार करती हूँ, आपने मेरे पहले प्रश्न का समाधान कर दिया। अब दूसरा प्रश्न प्रस्तुत करती हूँ।'

याज्ञवल्क्य बोले, -'पूछो गार्गी'।

गार्गी ने अपने पहले प्रश्न को ही दुबारा पूछा, जिसके उत्तर में महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने पूर्व कथन पर बल देते हुये पुनः 'वे अव्यक्त आकाश तत्त्व में ही व्याप्त हैं'। कहकर स्पष्टीकरण करते हुवे कहा, -'उसी को ब्रह्मज्ञानी अक्षर कहते हैं, जो न स्थूल है, न सूक्ष्म, न छोटा है न बड़ा, न उसका कोई रंग है, न वह स्निग्ध है, न छाया या अंधकार जैसा, न वायु या आकाश जैसा है। वह असंग है शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषयों से परे और उनके ग्रहण कर्ता ज्ञानेद्रियों से रहित है, वाणी, मन, प्राण, मुख, रहित मात्रा एवं माप रहित, उस अक्षर का न भीतर है न बाहर। ऐसे परस्पर विरोधी गुणों वाला वह न कुछ खाता है और न किसी का खाद्य है।'

'हे गार्गी ! इसी अक्षर के नियमन से सूर्य चन्द्रादि ज्योतिर्मय नक्षत्र, स्वर्ग, पृथ्वी, और सभी लोक, निमेष, मुहूर्त, दिन-रात, पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सरादि कालखण्ड अपने-अपने, स्थानों पर प्रतिष्ठित हैं। श्वेत हिमालय से कोई पूर्व पश्चिम या अन्य दिशाओं को बहने वाली नदियां अपने गन्तव्य समुद्र

को जाती हैं, संसार में दानी की प्रशंसा होती है, देवता विविध यज्ञों से तथा पितर दर्वीयज्ञ (श्राद्ध) से प्रसन्न होते हैं।'

' हे गार्गी ! संसार में जो भी इस अक्षर-ब्रह्म को जाने विना यज्ञ, उपासना, या दीर्घकालीन तप करते है उनके सभी कर्म क्षय होने वाले होते हैं, और वह कृपण (दुःखी) होकर संसार से प्रयाण करता है, पर जो इसका ज्ञान प्राप्त कर जाता है वह ब्रह्मवेता होकर मुक्ति पाता है'।

'हे गार्गी! यह अक्षर-ब्रह्म अदृश्य होने पर भी देखता, अश्रुत होने पर भी श्रोता, अचिन्त्य होने पर भी विचारता, अज्ञात होने पर भी विज्ञाता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई देखता, सुनता, विचारता, और जानता नहीं है। गार्गी ! इसी से यह आकाश में ओत-प्रोत है।'

यह सुनकर गार्गी ब्राह्मणों को संबोधित कर बोली, 'आदरणीय ब्राह्मणो! आप यही अपना सौभाग्य समझें कि याज्ञवल्क्य जी से आपको नमस्कार द्वारा ही छुटकारा मिल गया। आप लोगों में से कोई भी कभी इनसे ब्रह्म-चर्चा में जीतने वाला नहीं है।'

तदनन्तर वाचक्नु पुत्री गार्गी चुप हो गयी।

७ - उद्दालक - श्वेतकेतु संवाद ।

(सन्दर्भ- छान्दोग्य उपनिषद अध्याय-६)

अरुण पुत्र उद्दालक ने अपने १२ वर्षीय पुत्र श्वेतकेतु को गुरुकुल में वास कर अध्ययन करने का निर्देश देते हुवे कहा हमारे कुल में कोई भी अज्ञानी रह कर प्रतिष्ठित नहीं होता। १२ वर्ष गुरुकुल में व्यतीत कर २४ वर्ष की अवस्था में, श्वेतकेतु का सब वेदों का अध्ययन कर, समावर्तन होने पर, पिता उद्दालक ने उसे अतिगर्वित देखकर कहा, 'श्वेतकेतु तुम अपने ज्ञान के कारण अभिमानी और अविनीत हुवे प्रतीत हो रहे हो, क्या तुमने वह ज्ञानादेश नहीं पाया जिससे अश्रुत भी श्रुत, अविचारित भी विचारित और अविज्ञात भी विज्ञात हो जाता है?'

श्वेतकेतु ने पूछा, 'भगवन् ! वह आदेश क्या है?'

उद्दालक ने कहा, 'जैसे एक मिट्टी के पिण्ड के ज्ञान से मिट्टी से बनी सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, और सुवर्ण का ज्ञान होने पर सुवर्ण से बने सभी गहनों का ज्ञान हो जाता है। क्योंकि विकृति नाममात्र एवं शब्दों पर ही अवलंबित होती है, परन्तु सत्य तो मिट्टी, सोना आदि ही है। यही वह ज्ञानादेश है।'

श्वेतकेतु ने पिता से कहा, 'निश्चय ही मेरे आदरणीय गुरु को यह ज्ञात नहीं होगा अन्यथा मुझे क्यों नहीं बतलाते? अब कृपया आप ही मुझे बतायें'।

तब उद्दालक ने श्वेतकेतु से कहा, 'हे सोम्य ! प्रारम्भ में एक मात्र अद्वितीय सत् ही था। किसी ने यह भी कहा है कि आरम्भ में एक मात्र अद्वितीय असत् ही था जिससे सत् की उत्पत्ति हुवी। पर हे सोम्य ! भला असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है। अत: एकमात्र सत् ही सृष्टि के प्रारम्भ में था। उस सत् ने ईक्षण (संकल्प) किया मैं अनेक हो जाऊं, और तेज की सृष्टि की। तेज ने ईक्षण किया मैं अनेक हो जाऊं और जल की सृष्टि की। इसी से जब कोई शोक-सन्ताप करता है उसे आंसू-पसीने आ जाते है, तब तेज से ही जल की उत्पति होती है। जल ने इक्षण किया, 'हम अनेक हो जायें। तब उसने अन्न की सृष्टि की। इसी से जहां वर्षा होती है, वहीं बहुत अन्न होता है। खाद्य अन्न जल से ही उत्पन्न होता है।'

'सृष्टि के सभी प्राणियों के तीन प्रकार के बीज होते हैं,। अण्डज, जीवज जरायुज और उद्‌जिव। **उसी** सत्‌रूप देव ने संकल्प किया मैं इन तीनों देवों - **तेज, जल** और **अन्न** (पृथिवी), में प्रवेश कर प्रत्येक प्राणी में आत्मा रूप से अन्त:प्रविष्ट हो कर उन्हें नाम और रूप से अभिव्यक्त करुं। तब उसने तीनों को त्रिवृत्तीकरण से उन्हें कैसे एकीकृत किया, यह मुझसे जानो।'

'स्थूल अग्नि, आदित्य, चन्द्र और विद्युत में जो रोहित (लाल) वर्ण होता है वह सूक्ष्म तेज का अंश है, जो शुक्लवर्ण होता है वह सूक्ष्म जल का अंश है, जो कृष्ण वर्ण होता है वह सूक्ष्म अन्न (पृथिवी) का अंश है। इस प्रकारके

बोध से स्थूल अग्नि, आदित्य, चन्द्र और विद्युत का क्रमशः अग्नित्व, आदित्यत्व, चन्द्रत्व और विद्युतत्व निवृत्त होता है, क्योंकि ये विकृतियां नाममात्र एवं वाणी पर ही अवलंबित होती है। सत्य तो उपरोक्त तीन - **तेज, जल** और **अन्न** (पृथिवी) ही हैं।'

'पूर्व काल में इस **त्रिवृत्तीकरण** के ज्ञाता महान गृहस्थों एवं वेदज्ञों ने कहा था, कि हमारे कुल में कोई भी अश्रुत, अविचारित तथा अज्ञात बात को नही कहेगा, क्योंकि वे जानते थे कि रोहित तेज रूप, शुक्ल जल रूप और कृष्ण अन्न (पृथिवी) रूप है। उनको जो कुछ भी अविज्ञात (आभास होने में कठिन) प्रतीत होता था, उसको भी वे, इन्हीं तीनों देवों (**तेज, जल** और **पृथिवी**) के **त्रिवृत्तीकृत सम्मिलन** होना जानते थे। हे सोम्य ! अब तू यह समझ ले कि किस प्रकार **पुरुष** (शरीर युक्त जीव) के स्वरूप को प्राप्त कर इन तीनों देवो का त्रिवृत्तीकरण होता है।'

'खाये गये **अन्न** का जठराग्नि द्वारा पाचन होने से वह तीन घटकों में विभाजित हो जाता है। **स्थूल** घटक **मल** में परिवर्तित हो जाता है, **मध्यम** (उससे सूक्ष्म घटक) मांस में परिवर्तित हो जाता है, और **अतिसूक्ष्म** घटक **मन** हो जाता है । पिया हुवा पेय/जल भी तीन घटकों में विभाजित होता है, **स्थूल मूत्र, मध्यम रक्त** और **अति सूक्ष्म** घटक **प्राण** हो जाता है।

तेज युक्त (घृतादि पदार्थ) खाये जाकर तीन घटकों में विभाजित होते हैं। **स्थूल** घटक **अस्थि** होता है, **मध्यम** घटक **मज्जा** और **अतिसूक्ष्म** घटक **वाक्** बनती है। इसीलिये सोम्य ! **मन अन्नमय, प्राण जलमय** और **वाक् तेजमय** होते है।'

श्वेतकेतु बोला, 'भगवन्! कृपया मुझे पुनः समझाइये'।

उद्दालक ने -'तथास्तु' कहकर पुनः बतलाया,

'सोम्य ! मथे जाते हुवे दधि का जो सूक्ष्म सार रूप भाग होता है, वह उठकर उपर आ जाता है, वही (गरम किये जाने से) घृत बन जाता है। उसी प्रकार खाये गये अन्न का जो सूक्ष्म भाग होता है वह उपर उठकर **मन** बन जाता

है। पिये गये जलादि का जो सूक्ष्म भाग है, वह उपर उठकर **प्राण** बन जाता है। तेजयुक्त पदार्थ खाये जाकर उनका सूक्ष्म भाग उपर उठकर **वाक्** बन जाती है। अत: हे सोम्य! निश्चय ही **मन अन्नमय, प्राण जलमय** और **वाक् तेजोमय** होते हैं।

८ - यम -नचिकेता संवाद।

(सन्दर्भ-कठोपनिषद्)

गौतम गोत्रीय महर्षि अरुण ने अन्न-दान द्वारा प्रचुर यश अर्जन किया था। और 'वाजश्रवस' (अन्नदान से यशस्वी - वाज= अन्न) नाम से प्रसिद्धि पायी। उनके पुत्र उद्दालक ऋषि ने भी इसी परम्परा से कामना सिद्धि हेतु सर्ववेदस् (सर्वस्वदान) यज्ञ किया। और ब्राह्मणों को दक्षिणा में गोधन दिया। उनका बालक पुत्र नचिकेता श्रद्धा में अडिग रहने वाला श्रद्धापूर्वक उन गोशालासे लाई जा रही गायों को देख रहा था। उन बूढीं, सूखे स्तनों वाली मरणासन्न गायों को लक्ष्य कर वह सोचने लगा ऐसी गायों के दान से कैसे पुण्यफल की प्राप्ति होगी। उसने पिता को सावधान करने के लिये उनके पास जाकर पूछा 'पिताजी ! आप मुझे किसको देंगें?' कोई उत्तर न मिलने पर वही प्रश्न बार-बार दोहराया। ऋषि उद्दालक ने अन्त में झल्लाकर उत्तर दिया -'मैं तुझे **यम** (मृत्यु के देवता) को दूंगा?' जिज्ञासु बालक नचिकेता विचार करने लगा, -'मैं सदा प्रथम श्रेणी के शिष्य रूप से गुरुजनों का मनोरथ जानकर उनकी आज्ञा का सदा ही पालन करता रहा हूँ। अत: मुझे अपने कुल में पुत्रों की आज्ञाकारिता की परम्परा के अनुसार अपने पिता के संकल्प को पूरा करना ही होगा, और मनुष्य की नियति - **सस्यमिव मर्त्य पच्यते सस्य मिवा जायते पुन:**- (मनुष्य खेतकी फसल की तरह उगता, पुष्ट होता और सूखता हुवा नष्ट हो, बीज बनकर फिर उत्पन्न होता है।) के विचार से, पिता के संकल्प को पूरा करने के लिये, उसने यम सदन को प्रस्थान किया। वहां उस समय यमराज के उपस्थित न होने के कारण तीन दिन तक उनकी प्रतीक्षा करता रहा।

यमराज के लौटने पर उनकी पत्नी ने उन्हें बताया, एक तेजस्वी ब्राह्मण कुमार तीन दिनों से उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। कल्याण की प्राप्ति हेतु आपको उनका पाद्य-अर्ध्य से सत्कार करना चाहिए। यम ने नचिकेता की यथोचित अभ्यर्थना करने के बाद उनसे तीन दिनों की प्रतीक्षा के लिये क्षमा मांगी और बदले में तीन वर मांगने को कहा।

नचिकेता ने प्रथम वर अपने पिता के क्रोध-शमन, सौमनस्य और अपने प्रति वात्सल्य का मांगा। जिसके लिये यमराज ने 'तथास्तु' कर, कहा 'तुम्हें मृत्यु के मुंह से छूटा देख कर मेरी प्रेरणा से तुम्हारे पिता आरुणि क्रोध रहित, निश्चिन्त एवं सुखी हो जायेंगे और तुम्हारे प्रति अतिप्रसन्न होंगे।'

नचिकेता ने यमराज से पुनः कहा, 'स्वर्ग लोक में किसी प्रकार का भय नहीं व्याप्त होता, भूख, प्यास दुःख- दैन्य आदि सांसारिक द्वन्दों से छूट सुख की प्राप्ति होती है। मैं इसी स्वर्ग की प्राप्ति के साधन अग्निहोत्र एवं यज्ञ की अग्नि-विद्या का ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूं। दूसरे वर के रूप में आप वही मुझे प्रदान करें। यमराज ने उसे अग्नि-विद्या का रहस्य बतलाते हुवे - बुद्धि में स्थित ज्ञानाग्नि, शरीर स्थित प्राणाग्नि, उदर की जठराग्नि, आत्मा रूप चेतनाग्नि, समुद्र स्थित वाड़वाग्नि, वन की दावाग्नि, अन्तरिक्ष स्थित विद्युताग्नि, यज्ञ की पञ्चाग्नि रूप आवसत्थ, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, अन्वाहार्य और गार्हपत्य तथा विभिन्न लौकिक संस्कारादि प्रयोगों में प्रयुक्त होने वाली पावक, मृड, सूर्य, शिखि, योजक, क्रव्याद, हव्यवाहन, कव्यवाहन आदि विभिन्न नामों से आवाहित होने वाली अग्नि के स्वरूप, प्रकार तथा चयनविधि का ज्ञान देकर, अग्निहोत्र के महत्वपूर्ण कर्म में प्रयुक्त अग्नि को **नाचिकेत अग्नि** नाम देकर दूसरा वर दिया, और तीसरा वर मांगने को कहा।

इस पर नचिकेता ने जिज्ञासा की कि, संसार में कुछ लोग आत्मा को अमर मानते हुवे शरीर को नाशवान कहते हैं, जब कि अन्य आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। मैं यही **आत्मतत्त्व** तीसरे वर के रूप में आपसे सुनना चाहता हूँ। यमराज ने बालक नचिकेता के इस प्रश्न को टालने की कोशिश करते हुवे कहा, 'इस गहन विषय में देवताओं ने भी शंका की थी क्योंकि यह विषय

अतिसूक्ष्म एवं कठिन है, तुम कोई दूसरा वर मांगो, इसके विषय में मत पूछो'। नचिकेता ने कहा, 'आपने बताया देवताओं में भी इस संबंध में विचिकित्सा थी। अत: अब आप जैसे योग्य उपदेशक को पाकर मुझे कोई अन्य वर से प्रयोजन नहीं है। यमराज ने नचिकेता के संकल्प की दृढ़ता जानने हेतु उसे प्रलोभन देते हुवे कहा, 'नचिकेता, तुम दीर्घजीवन, यथेच्छ राज्य, संपदा, परिवार, सुखसाधन मांग लो मैं तुम्हें सभी प्रकार के भोगों से सम्पन्न कर दूंगा। मरने पर आत्मा का क्या होता है इस आत्मतत्त्व विषयक प्रश्न को छोड़ दो।' नचिकेता अपने संकल्प पर दृढ बना रहा, और उसने कहा, -'**श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणा जरयन्ति तेजः । अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्त्व नृत्य गीते।।**' (मनुष्यों के ये सभी भोग क्षणभंगुर और इन्द्रियों को क्षीण करने वाले होने से अन्ततः दु:ख ही प्राप्त कराते है। अत: ये मुझे नहीं चाहिये फिर धन से मनुष्य को कभी तृप्ति नहीं होती। इन भोगों के लिये, आयु चाहे जितनी हो, कम ही प्रतीत होती है। आपके अनुग्रह से उचित आयु और जीवन यापन के लिये उचित धन हम पा ही लेंगे।) मुझे तो यही वर चाहिये। मनुष्य मरणधर्मा है, यह जाननेवाला, ऐसा कौन होगा जो आप जैसे अमर महात्मा का सान्निध्य पाकर भी भोग, क्रीड़ा, आमोद प्रमोद हेतु दीर्घ जीवन की कामना करेगा?'

नचिकेता को अधिकारी जानकर यमराज ने उसकी प्रशंसा कर कहा, -' **श्रेय** कल्याण कारी और **प्रेय** सुखकारी ये दो ही साधन मनुष्यों के जीवन में आते है। अधिकतर लोग आत्मा के अमरत्व एवं पुनर्जन्म में विश्वास न करने के कारण प्रेय साधनों को सर्वोपरि मान अपने जीवन में **योग** (वस्तुओं का संग्रह) और उनके **क्षेम** (सुरक्षा) करते हुये **प्रेय** साधन ही अपनाते है और श्रेयसाधनों पर विचार नहीं करते। अविद्या और विद्या रूप से क्रमश: **प्रेय** और **श्रेय** का ज्ञान पृथक एवं विपरीत ही है। तुम्हारे ज्ञानामिलाषी होने के कारण ही तुम्हें भोगों के प्रलोभन नहीं डिगा सके। अविद्या से ग्रस्त होकर ही अपने को ज्ञानी मानने वाले भोगार्थी मूर्ख जन्म जन्मान्तरों तक संसृति के आवागमन चक्र में भटकते रहते हैं। और मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति से वंचित रहते

है। ऐसे सम्पत्ति के मोह से मतिभ्रष्ट हुवे लोग इस संसार को ही परम मानते हुवे बार बार मृत्यु के वश में पड़ते हैं।'

'फिर यह दुर्लभ **आत्मतत्त्व** का ज्ञान मुश्किल से ही सुनने को मिलता है, सुनने पर भी समझना कठिन होता है, और इस पर भी सच्चे आत्मज्ञानी दुर्लभ होते हैं। ऐसे गहन विषय का सुविज्ञ के द्वारा उपदेश होने से ही ज्ञान होता है, सामान्य ज्ञानी के वक्तव्य से इसका समाधान नहीं होता। हे नचिकेता ! सामान्य सांसारिक ज्ञान की भांति यह आत्मज्ञान तर्कों से प्रतिपादित नहीं होता वरन् तुम जैसे निष्ठावान जिज्ञासुओं द्वारा श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने से आत्मसात होता है।'

वासना और तृष्णा जनित सकाम कर्मों की बात करते हुये, यमराज ने यह भी स्पष्ट कहा, -'कर्म फल निधि नाशवान है और इस प्रकार के साधनों से अज, नित्य, आत्मा एवं परमात्मा की प्रतीति नही ं हो सकती, इसीलिये मैने ईंधन, समिधा, धृतादि अनित्य पदार्थों से चित नचिकेत अग्नि में अनासक्त हो निष्काम कर्म रूप यज्ञ में **द्रव्यत्याग** द्वारा परमात्मा की प्राप्ति की साधना का विधान किया है।'

'हे नचिकेता ! उस चेतनारूप सब में स्थित परमात्मा अनादि अनन्त हैं, उसकी प्राप्ति ही सब कामनाओं की पूर्णता है। वही एक अद्वैत सत् रूप भय से परे सबका स्तुत्य है। उसकी प्राप्ति हेतु साधक निष्काम कर्म जनित विवेकसे अन्तर की शुचिता पाकर, मन को अन्तमुर्खी बना विषयों से हटा कर ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण करते हैं। वही गुणातीत अक्षर ब्रह्म के रूप से भी निरूपित हैं, और वही सृष्टि-स्थिति-लय के विधान-कर्ता, त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश) रूप से भी कहे जाते हैं। उसी के शरणागत होकर जीव संसृति बन्धन से मुक्ति रूप अमरत्व की प्राप्ति से कृतकृत्य होता है।'

'हे नचिकेता ! तुम यह भी समझ लो, कि प्राणियों के अन्तर में बसने वाली **चेतना** जिसे **आत्मा** के नाम से जाना जाता है उसी परमात्मा की अंश है और अनादि अनन्त, नित्य परमात्मा के ही स्वरूप वाली सत-चित् आनन्द रूपा है। इस नाशवान् शरीरों में रहने वाली आत्मा को जो **मैं यही हूं** अथवा **अहं**

ब्रह्मास्मि रूप से जानते हैं, वे स्वयं को मरने वाला और प्राणियों को शरीर नष्ट होने पर मरा हुवा कभी नही मानते और दु:खी नहीं होते। यही आत्मज्ञान का तत्त्व है जिसे असंयमित इन्द्रियों वाला, अशान्त मन और बुद्धिवाला तथा विषयों के मोह से ग्रस्त मनुष्य नहीं प्राप्त कर सकता है। यह आत्मा-परमात्मा का ज्ञान संयमी व्यक्ति को परमात्मा की कृपा से ही स्फुरित हो पाता है -**'सोई जानई जेहि देहिं जनाई'** उक्ति ही यहां चरितार्थ होती है'।

आत्मज्ञान की साधना को स्पष्ट करते हुवे यमराज ने कहा, 'नचिकेता! तुम शरीर को आत्मा का रथ, इन्द्रियों को उसके घोड़े, मन को घोड़ों की लगाम, और निश्चयात्मक विवेक बुद्धि को उस रथ का सारथी मानो, जैसे उच्छ्रिंखल घोड़ों, ढीली लगाम और अकुशल सारथी द्वारा चलाये जाने वाला रथ, सुचारु रूप से गतिमान न हो उल्टे सीधे भागता हुवा अपने गन्तव्य को न पहुंच दुर्घटना ग्रस्त होता है, इसी प्रकार ऐसे रथ में सवार जीव भी अपने गन्तव्य मुक्ति रूप अमरत्व को न पाकर दुर्घटना ग्रस्त हो संसृति चक्र में पहुंचता है । शब्द, स्पर्शादि विषय तुम्हारी इंन्द्रियों से प्रबल होते हैं। मन उन सब इन्द्रियों से प्रबल है। मन से भी निश्चयात्मक बुद्धि प्रबल होती है। पर शरीर का स्वामी जीवात्मा इन सभी से प्रबल होता है। जीवात्मा से परमेश्वर की माया कहलाने वाली प्रकृति बलवान् होती है और सांख्य शास्त्र में पुरुष कहे जाने वाले परमेश्वर ही सर्व शक्तिमान होते हैं। उनसे बलवान कोई नहीं होता, क्योंकि भगवान होने से उनमें ही **षड्भगों**-ऐश्वर्य,धर्म, यश, ज्ञान, वैराग्य और श्री-की सम्पूर्णता रहती है। जिससे वे प्राणियों के ज्ञान-अज्ञान, जन्म-मृत्यु, के ज्ञाता हैं । सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय के आधार और ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों के आगार हैं।'

तत्वज्ञान की प्राप्ति की कठिनाई बतलाते हुवे, यमराजने नचिकेता को सावधान करते हुवे समझाया, 'संसार में सभी मोह रूप अज्ञान निद्रा में सोये अचेत रहते हैं, अत: उठो और जागरूक बनो, ज्ञानी महापुरुषों का सान्निध्य पाकर उस परमात्मा को जानो। तत्त्वज्ञानी ज्ञान मार्ग को तीक्ष्ण छुरे की धार की तरह बतलाते है, जिस पर सावधानी से चलना होता है।' इसी से कहा गया है, **'ग्यान पंथ कृपान के धारा। परत खगेस होत नहिं वारा। जो निर्विघ्न पंथ**

निर्वहई, सो कैवल्य परम पद लहई' इसका कारण बतलाते हुवे यमराज ने कहा, 'परमात्मा के ही तेज से प्रकाशित होने वाली ज्ञानेन्द्रियां नाशवान हैं, और क्षणभंगुर विषयों का ज्ञान पाने हेतु बहिर्मुखी होती हैं अत: ये अविनाशी, नित्य और अतिसूक्ष्म परमात्मा/आत्मा तक पहुंचने में असमर्थ होती हैं बुद्धि की ही, शुचिता से उसमें धारणा द्वारा उसका आभास संभव है।'

६ - महर्षि ऋभु- निदाघ संवाद ।

(सन्दर्भ-ब्रह्मपुराण)

ब्रह्मा के मानस पुत्रों में सनत्कुमारों के साथ महर्षि ऋभु का भी वर्णन मिलता है। वे भी स्वभाव से निवृत्तिपरायण आत्मज्ञानी के रूप से प्रसिद्ध थे। एक बार वे विचरण करते हुवे महर्षि पुलस्त्य के आश्रम जा पहुंचे। वहां उनके पुत्र निदाघ को वेदाध्ययन में लगे देख कर महर्षि ऋभु ने उनसे कहा, 'वत्स निदाघ ! मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है, आत्मज्ञान प्राप्त करना, वेदों को कंठस्थ करने से अधिक श्रेयस्कर आत्मज्ञान की प्राप्ति ही है, यदि आत्मज्ञान न हो तो वेदाध्ययन से क्या लाभ?' निदाघ शुद्ध चित्त और जिज्ञासु थे, उन्होने महर्षि ऋभु का शिष्यत्व ग्रहण कर उनसे दीक्षा ली और कुछ काल तक उन अवधूत के साथ आत्मज्ञान की साधना में रत, विचरण करते रहे। महर्षि से उन्होंने तत्त्व ज्ञान प्राप्त किया और उनकी आज्ञा से समावर्तन कर पिता के पास लौट, विवाह किया और गृहस्थ धर्म पालन करते रहे।

महर्षि ऋभु एक बार पर्यटन करते हुये शिष्य निदाघ के घर पहुचे वे शिष्य का हाल-चाल जानना चाहते थे, निदाघ गुरु को पहचान न सका पर एक सद्‌गृहस्थ की तरह उनका सत्कार किया, और पूछा, 'भगवन्! आप का आना कैसे हुवा? आप कहां रहते हैं? भोजन से आप तृप्त हुवे?'

ऋभु ने उत्तर दिया, 'मुझसे आना-जाना कहां है? मैं देश काल से अपरिच्छिन्न होने पर भी सर्वव्यापी हूं ! जहां तक भोजन की बात है, रसना स्वाद का अनुभव करती और मन को तृप्ति होती है, मैं इन्द्रिय अथवा मन नहीं हूं।'

इतना सुनकर निदाघ को गुरु का परिचय मिल गया और उसने उनके चरणों में पड़ आत्मज्ञान की विस्मृति होने की क्षमा याचना की। निदाघ तबसे गुरु द्वारा दिये ज्ञान को जीवन में उतारने का प्रयास करता हुवा जीवन-यापन करता रहा।

दूसरी बार महर्षि ऋभु जब निदाघ के गृह में आ रहे थे तब राजा की सवारी निकल रही थी और राजमार्ग पर लोगों की भीड़ थी। उनके अप्रत्याशित आने से निदाघ ने फिर उन्हें नहीं पहचाना। महर्षि ने निदाघ से पूछा, 'यह मार्ग में भीड़ क्यों है?'

निदाघ ने उत्तर दिया, -'राजा कहीं यात्रा पर जा रहे हैं।'

ऋभु ने फिर पूछा, -'इनमें राजा कौन है?'

निदाघ ने उत्तर दिया, -'जो सबसे बड़े हाथी पर बैठे हैं।'

ऋभु ने इस पर पूछा, -'हाथी कौन? और राजा कौन?'

निदाघ ने खीझकर कहा, -'जो नीचे चल रहा है, वह हाथी है, और जो उस पर बैठा है, वह राजा'।

ऋभु ने फिर पूछा, -'नीचे क्या? और ऊपर क्या?'

निदाघ चिढ़ गये वे गुरु को पहचान नहीं सके थे। क्रोध से पागल से लगते उस प्रश्न कर्ता के ऊपर वे चढ़ बैठे और बोले, 'अब तुम नीचे हो और मैं तुम्हारे ऊपर।'

ऋभु ने निर्विकार होकर पूछा, -'यह तुम कौन? और मैं कौन?'

इस प्रश्न ने निदाघ को चोंका दिया, वे गुरु के चरणों पर गिर पड़े। ऋभु ने उससे कहा, 'वत्स! भोग की अवस्था तुम अब पार कर चुके हो, तत्त्व ज्ञान को जीवन में उतारो।' और निदाघ ने गृहत्याग कर सन्यास ग्रहण कर लिया।

इति

श्लोकों की वर्णानुक्रमणिका

संकेत - आ.बो.= आत्मबोध, उ.सा. = उपदेश सारम्,
अ.म. = अद्वैतमकरन्द,

आगे लिखी संख्या से इनकी श्लोक संख्या का निर्देश है।

क्रम	श्लोक	प्राप्ति स्थान	पृष्ठांक
१	अखण्डानन्द रूपस्य तस्यानन्दलवाश्रिता:	आ.बो.५८	७३
२	अतद्व्यावृत्तिरूपेण वेदान्तैर्लक्ष्यतेद्वयम्।	आ.बो.५७	७२
३	अनण्वस्थूलमह्रस्वमदीर्घमजमव्ययम्।	आ.बो.६०	७५
४	अनाद्यविद्यानिर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते।	आ.बो.१३	३५
५	अभारूपस्य विश्वस्य भानं भासन्निधेर्विना।	अ.म.६	१३२
६	अमनस्त्वान्न मे दु:खरागद्वेषभयादय:।	आ.बो.३२	४६
७	अमृताब्धेर्नमे जीर्णिमृषाडिंडीरजन्मनि।	अ.म.२१	१४७
८	अरुणेनेव बोधेन पूर्ण सन्तमसे हते।	आ.बो.४३	५७
९	अविद्यकं शरीरादि दृश्यं बुदबुदवृत्क्षरम्।	आ.बो.३०	४७
१०	अविरोधितया कर्म नाविद्यां विनिवर्तयेत्।	आ.बो.३	२७
११	अहमपेतकं निजविभानकं।	उ.सा.३०	१२५
१२	अहमयं कुतो भवति चिन्वत:।	उ.सा.१६	१०८
१३	अहमस्मि सदा भामि कदाचिन्नाऽहमप्रिय:।	अ.म.२	१२८
१४	अहमाकाशवत्सर्वं बहिरन्तर्गतोऽच्युत।	आ.बो.३५	५१
१५	अहमि नाशभाज्यहमहंतया।	उ.सा.२०	११०
१६	अहमेव सुखं नाऽन्यदन्यच्चेनैव तत्सुखम्।	अ.म.२४	१५०
१७	अज्ञान कलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद्विनिर्मलम्।	आ.बो.५	२८
१८	अज्ञानान्मानसोपाधे: कर्तुत्वादी निचात्मनि।	आ.बो.२१	३६
१९	आज्यधारया स्रोतसा समम्।	उ.सा.७	६२
२०	आत्मचैतन्यमाश्रित्य देहेन्द्रियमनोधिय:।	आ.बो.१६	३८

२१	आत्मनो विक्रिया नास्ति बुद्धेर्बोधो न जात्विति।	आ.बो.२५	४२
२२	आत्मनः सच्चिदंशश्च बुद्धेर्वृत्तिरिति द्वयम्।	आ.बो.२४	४२
२३	आत्मन्येवाखिलं दृश्यं प्रविलाप्य धिया सुधीः।	आ.बो.३६	५४
२४	आत्मसंस्थितिः स्वात्मदर्शनम्।	उ.सा.२६	११६
२५	आत्मा तु सततं प्राप्तोऽप्राप्तवदविद्या।	आ.बो.४४	५८
२६	आत्मावभासयत्येको बुद्ध्यादीनीन्द्रियाण्यपि।	आ.बो.२७	४५
२७	आत्माज्ञानमहानिद्राजृंमितेऽस्मिञ्जगन्मये।	अ.म.१८	१४४
२८	आत्मैवेदं जगत्सर्वमात्मनोऽन्यन्न विद्यते।	आ.बो.४८	६१
२९	इदमहं पद भिख्यमन्वहम्।	उ.सा.२१	११०
३०	ईश्वरार्पितं नेच्छया कृतम्।	उ.सा.३	८६
३१	ईशजीवयोर्वेषधीभिदा।	उ.सा.२४	११५
३२	उत्तमस्तवादुच्चमन्दतः।	उ.सा.६	९०
३३	उपशान्तजगज्जीवशिष्याचार्येश्वरभ्रमम्।	अ.म.२७	१५३
३४	उपाधिविलयाद्विष्णौ निर्विशेष विशेन्मुनिः।	आ.बो.५३	६५
३५	उपाधिस्थोऽपि तद्धर्मैरलिप्तोव्योमवत्मुनिः ।	आ.बो.५२	६५
३६	एतस्माज्जायते प्राणोमनःसर्वेन्द्रियाणि च ।	आ.बो.३३	४९
३७	एवमात्मारणौ ध्यानमथने सततं कृते ।	आ.बो.४२	५६
३८	एवं निरन्तराभ्यस्ता ब्रह्मैवास्मीति वासना ।	आ.बो.३७	५२
३९	कटाक्षकिरणाचांतनमन मोहाब्धये।	अ.म.१	१२७
४०	कर्तुराज्ञया प्राप्यते फलम्।	उ.सा.१	८३
४१	कायवाङ्मनः कार्यमुक्तमम्।	उ.सा.४	८८
४२	कृतिमहोदधौ पतनकारणम्।	उ.सा.२	८५
४३	किं स्वरूपमित्यात्मदर्शने ।	उ.सा.२८	१२१
४४	चित्त वायवश्चित्क्रियायुताः।	उ.सा.१२	९८
४५	चैत्योपरागरूपा मे साक्षिताऽपि न तात्विकी।	अ.म.२०	१४६
४६	जगत ईशधीयुक्तसेवनम्।	उ.सा.५	८९
४७	जगद्विलक्षणं ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्यन्न किश्चन्।	आ.बो.६३	७८

४८	जड़ाजड़विभागोऽयम्जड़ेमपि कल्पिते:।	अ.म.१६	१४५
४६	जीवन्मुक्तस्तु तद्विद्वान्पूर्वोपाधिगुणान्स्त्यजेत्।	आ.बो.४६	६२
५०	तपोभि: क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम्।	आ.बो.१	२५
५१	तत्त्वस्वरूपानुभवादुत्पन्नं ज्ञानमञ्जसा।	आ.बो.४६	५६
५२	तथाऽप्याभाति कोऽप्येषविचाराभाव जीवन:।	अ.म.१७	१४३
५३	तद्युक्तमखिलं वस्तु व्यवहारस्तदचित:।	आ.बो.५६	७४
५४	तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिका रजतं यथा।	आ.बो.७	३०
५५	तिर्यगूर्ध्वमध: पूर्णं सच्चिदानन्दमद्वयम्।	आ.बो.५६	७०
५६	तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा रागद्वेषादिराक्षसान्।	आ.बो.५०	६३
५७	तेन तेन हि रूपेण जायते लीयते मुहु:।	अ.म.१४	१४०
५८	दिग्देशकालाद्यनपेक्ष्य सर्वगं।	आ.बो.६८	८१
५६	दृश्यते श्रूयते यद्यद्ब्रह्मणोऽयन्न तद्भवेत्।	आ.बो.६४	७६
६०	दृश्यवारितं चित्तमात्मन:।	उ.सा.१६	१०३
६१	देहान्यत्वान्न मे जन्मजराकार्श्यलयादय:।	आ.बो.३१	४८
६२	देहेन्द्रियगुणान्कर्माण्यमले सच्चिदात्मनि।	आ.बो.२०	३६
६३	देहेन्द्रियमनोबुद्धि प्रकृतिभ्यो विलक्षणम्।	आ.बो.१७	३७
६४	न च स्वजन्मनाशं वा द्रष्टुमर्हति कश्चन्।	अ.म.१५	१४१
६५	न देहो नेन्द्रियं चाऽहं न प्राणो न मनो न धी:।	अ.म.८	१३४
६६	न शोषप्लोषविक्लेदश्चिन्नभसो मम।	अ.म.५	१३१
६७	न प्रकाशेऽहमित्युक्तिर्यत्प्रकाशैकबंधना।	अ.म.१६	१४२
६८	न स्वत: प्रत्यभिज्ञानान्निरंशत्वान्नचाऽन्यत:।	अ.म.४	१३०
६६	न हि नानास्वरूपं स्यादेकं वस्तु कदाचन।	अ.म.२५	१५१
७०	न हि भानादृते सत्वं न ते भानं चितोऽचित्त।	अ.म.७	१३३
७१	नष्टमानसोत्कृष्टयोगिन:।	उ.सा.१५	१०१
७२	नानोपाधिवशादेव जातिवर्णाश्रमादय:।	आ.बो.१०	३२
७३	निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो निर्विकल्पोनिरंजन:।	आ.बो.३४	५०
७४	नित्यशुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम।	आ.बो.३६	५२

७५	निषिध्य निखिलोपाधीन्नेति नेतीति वाक्यत:।	आ.बो.२६	४६
७६	पञ्चकोशादियोगेन तत्तन्मय इव स्थित: ।	आ.बो.१४	३५
७७	पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्।	आ.बो.१२	३४
७८	पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसञ्चितम्।	आ.बो.११	३३
७९	परिछन्न इवाज्ञानात्तन्नाशे सति केवल: ।	आ.बो.४	२८
८०	परोक्षतापरिच्छेद शावल्यापोह निर्मलम्।	अ.म.२६	१५२
८१	प्रकाशोऽर्कस्य तोयस्य शैत्यमग्नेर्यथोष्णता।	आ.बो.२३	४१
८२	प्राणबन्धनाल्लीनमानसम्।	उ.सा.१४	१००
८३	बन्धमुक्तत्यतीतं परं सुखम्।	उ.सा.२६	१२३
८४	बाह्यनित्यसुखासक्तिं हित्वात्मसुखनिवृत: ।	आ.बो.५१	६३
८५	बोधोऽन्यसाधनेभ्यो हि साक्षान्मोक्षैक साधनम्।	आ.बो.२	२७
८६	भाव शून्यसद्भाव सुस्थिति:।	उ.सा.६	६४
८७	भेदभावतात्सोऽहमित्यसौ।	उ.सा.८	६३
८८	मय्येवोदेति चिद्व्योम्नि जगद्गन्धर्वपत्तनम्।	अ.म.३	१२६
८९	मानसं तु किं मार्गणे कृते।	उ.सा.१७	१०५
९०	यथाकाशोहृषीकेशो नानोपाधिगतो विभु:।	आ.बो.९	३१
९१	यद्दृष्ट्वा नापरं दृश्यं यद्भूत्वा न पुनर्भव: ।	आ.बो.५५	६८
९२	यद्भासा भास्यतेऽर्कादि भास्यैर्यस्तु न भास्यते।	आ.बो.६१	७६
९३	यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम् ।	आ.बो.५४	६७
९४	रज्जुसर्पवदात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं वहेत् ।	आ.बो.२६	४३
९५	रागेच्छासुखदु:खादि बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते ।	आ.बो.२२	४०
९६	रूपवर्णादिकं सर्वं विहाय परमार्थवित्।	आ.बो.४०	५४
९७	लयविनाशने उभयरोधने।	उ.सा.१३	९९
९८	लक्ष्मीधरकवे: सूक्तिशरदम्भोजसंभृत:।	अ.म.२८	१५४
९९	वपुस्तुषादिभि: कोशैयुक्तं युक्त्यवघातत:।	आ.बो.१५	३६
१००	वायुरोधनाल्लीयते मन:।	उ.सा.११	९६
१०१	विग्रहेन्द्रियप्राणधीतम:।	उ.सा.२२	११२

१०२	विविक्तदेश आसीनो विरागो विजितेन्द्रियः।	आ.बो.३८	५३
१०३	विज्ञानविरतिः सूक्तिस्तज्जन्म स्वप्नजागरौ।	अ.म.१२	१३८
१०४	वृत्तयस्त्वहंवृत्तिमाश्रिताः।	उ.सा.१८	१०७
१०५	वेषहानतः स्वात्मदर्शनम्।	उ.सा.२५	११६
१०६	व्यापृतेष्विन्द्रियेष्वात्मा व्यापारीवा विवेकिनाम्।	आ.बो.१८	३८
१०७	श्रवणादिभिरुद्दीप्तज्ञानाग्निपरितापितः।	आ.बो.६६	८०
१०८	षड्विकारवतां वेत्ता निर्विकारोऽहमेत्यथा।	अ.म.१३	१३९
१०९	सच्चिदात्मन्यनुस्यूते नित्ये विष्णौ प्रकल्पिताः।	आ.बो.८	३०
११०	सत्वभासिका चित्क्ववेतरा।	उ.सा.२३	११३
१११	सदासर्वगतोऽप्यामात्मान सर्वत्रावभासते।	आ.बो.१९	३७
११२	सम्यक् विज्ञानवान योगी स्वात्मन्येवाखिलं जगत।	आ.बो.४७	६०
११३	सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते।	आ.बो.६५	७९
११४	साक्षी सर्वान्वितः प्रेयामहं नाऽहं कदाचन्।	अ.म.९	१३५
११५	सुप्तेऽहमि न दृश्यत दुःखदोष प्रवृत्तयः।	अ.म.१०	१३६
११६	सुप्तः सुप्तिं न जानाति नाऽसुप्ते स्वप्नजागरौ।	अ.म.११	१३७
११७	संसार स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुलः।	आ.बो.६	२६
११८	स्थाणौ पुरुषवद्भ्रान्त्या कृता ब्रह्मणि जीवता।	आ.बो.४५	५६
११९	स्वबोधे नान्यबोधेच्छा बोधरूपतयात्मनः।	आ.बो.२८	४६
१२०	स्वयमन्तर्बहिर्व्याप्य भासन्नखिलं जगत।	आ.बो.६२	७७
१२१	स्वरूपमेव मे सत्वं न तु धर्मो नमस्त्ववृत्।	अ.म.२२	१४८
१२२	स्वरूपमेव मे ज्ञानं न गुणः स गुणो यदि।	अ.म.२३	१४९
१२३	हृत्स्थले मनः स्वस्थताक्रिया।	उ.सा.१०	६५
१२४	हृदयाकाशोदितो ह्यात्मा बोधभानुस्तमोऽपहृत।	आ.बो.६७	८०
१२५	ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः परे चात्मनि विद्यते।	आ.बो.४१	५५
१२६	ज्ञान वर्जिताऽज्ञानहीन चित्।	उ.सा.२७	१२०

इति

अथ श्री शङ्कराचार्य कृतं-निर्वाण दशकम्।

न भूमिर्नतोयं न तेजो न वायुर्नखंनेन्द्रियं वा न तेषांसमूहः।
अनैकान्तिकत्वात्सुषुप्त्येकसिद्धस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥१॥

मैं पृथ्वी जल तेज वायु आकाश पञ्चभूत नहीं
इनके समुच्चय से बने देह - इन्द्रियों में भी नहीं।
इन सभी के विलय होने पर शेष रहता जो वही
मैं जीवों की आत्मा हूं कल्याणमय परमेश्वर वही॥

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा न मे धारणा ध्यानयोगादयोऽपि।
अनात्माश्रयोऽहं ममाध्यासहीनात्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥२॥

मैं जाति-वर्ण धर्म - कर्म वर्णाश्रमों में स्थित नहीं
धारणा ध्यानादि अष्टांग - योग अङ्गों में भी नहीं।
देहों से अज्ञात उन्हीं में जो तत् छिपा रहे वही
मैं जीवों की आत्मा हूं कल्याणमय परमेश्वर वही॥

न माता पिता वा न देवा न लोका न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति।
सुषुप्तौ निरस्तातिशून्यात्मकत्वात्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥३॥

मैं न माता पिता देवों अथवा लोकों नें कहीं नहीं
न वेदों यज्ञों अथवा तीर्थों में रहूं कभी कहीं ही।
सुषुप्ति में चेतना शून्य होने पर हो जो जागृत वही।
मैं जीवों की आत्मा हूं कल्याणमय परमेश्वर वही।

न सांख्यं न शैवं न तत्पाञ्चरात्रं न जैनं न मीमांसकादेर्मतं वा।
विशिष्टानुभूत्या विशुद्धात्मकत्वात्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥४॥

मैं सांख्य शैव अथवा पाञ्चरात्रादि मतों में भी नहीं
न जैन मीमांसादि किन्हीं दर्शनों में ही रहती कहीं।
अन्त:करण शुद्ध होने पर ही अनुभूति हो सके जिसकी
मैं जीवों की आत्मा हूं कल्याणमय परमेश्वर वही॥

न शुक्लं न कृष्णं न रक्तं न पीतं न कुब्जं न ह्रस्वं न दीर्घम्।
अरूपं तथा ज्योतिराकारकत्वात्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥५॥

मैं शुक्ल कृष्ण रक्त पीतादि किन्हीं रङ्गों में नहीं
न सीधे - टेढ़े छोटे-बड़े किन्हीं रूपों में ही कहीं।
एक अरूप ज्योतिर्मय जो रहे अन्त में वही
मैं जीवों की आत्मा हूं कल्याणमय परमेश्वर वही॥

न जाग्रन्न मे स्वप्नको वा सुषुप्तिर्न विश्वो न वा तैजसः प्राज्ञको वा।
अविद्यात्मकत्वात्त्रयाणां तुरीयं तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥६॥

जागृति स्वप्न अथवा सुषुप्ति दशाऐं मेरी नहीं
विश्व तैजस अथवा प्राज्ञ रूप भी मेरे नहीं।
अज्ञान की इन दशाओं से परे जो तुरीय शेष रहे वही
मैं जीवों की आत्मा हूं कल्याणमय परमेश्वर वही॥

न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा न च त्वं न चाहं न चायं प्रपञ्चं।
स्वरूपावबोधाद्विकल्पासहिष्णुस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥७॥

मैं शास्त्रियों शास्त्रों शिष्यों शिक्षा में कहीं नहीं
न तुम-हम अथवा माया के इस प्रपंच में ही कहीं॥
धैर्य से नेति - नेति कर आत्मबोध जो ज्ञात हो वही
मैं जीवों की आत्मा हूं कल्याणमय परमेश्वर वही॥

न चोर्ध्वं न चाधो न चान्तर्न वाह्यं न मध्यं न तिर्यङ्न पूर्वा न परा दिक्।
वियद्व्यापकत्वादखण्डैक रूपस्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥८॥

मैं ऊपर - नीचे भीतर - बाहर कहीं भी नहीं
न मध्य-तिरछे पूरब - पश्चिम दिशाओं में नहीं।
अखण्ड सर्वव्यापी स्थित अन्तर में प्राणियों के सभी
मैं जीवों की आत्मा हूं कल्याणमय परमेश्वर वही॥

अपि व्यापकत्वादितत्त्वात्प्रयोगात् स्वत:सिद्धभावादनन्याश्रयत्वात् ।
जगत्तुच्छमेतत्समस्तं तदन्यस्तदेकोऽवशिष्ट: शिव: केवलोऽहम्॥९॥

अपने सर्वव्यापकत्व के व्यवहार से स्वतंत्रता लखाती मैं
एकाग्र ध्यान से अनन्य निज सार्वभौमिकत्व जताती मैं।
इस तुच्छ नश्वर जगत से भिन्न शाश्वत तत्त्व है जो वही मैं
जीवों की आत्मा हूं कल्याणमय परमेश्वर ही मैं ॥

न चैकं तदन्यद्द्वितीयं कुत: स्यान्न: चाकेवलत्वं न वा केवलत्वात्।
न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात्कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि॥१०॥

एक ही अद्वितीय हूं मैं नहीं मुझसा कुछ भी अन्य ही
मुझमें लक्षण होते परिलक्षित असत - सत उभय ही।
मैं न शून्य न अशून्य ही मुझको कहते अद्वैत तभी
वेदान्त से सिद्ध मैं हूं 'सर्वं खल्विदं' तत्त्व तभी॥

इति श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचितं निर्वाणदशकं ललितमोहन पन्त कृत राष्ट्रभाषा रूपान्तर सहितं सम्पूर्णम्।

इति

श्री शङ्कराचार्य कृतं आत्मपञ्चकम्

नाहं देहो नेन्द्रियाण्यन्तरङ्गं नाहंकार: प्राणवर्गो न बुद्धि:।
दारापत्यक्षेत्रवित्तादिदूर: साक्षी नित्य: प्रत्यंगात्मा शिवोऽहम् ।।१।।

मैं देह इन्द्रिय अन्त:करण कुछ भी नहीं
मैं अहंकार दशप्राण बुद्धि कुछ भी नहीं।
मैं पत्नी -पति भूमि - सम्पत्ति सब से परे ही
हूं सर्व-साक्षी चेतन शाश्वत कल्याणमय ही।।

रज्ज्वज्ञानाद्भाति रज्जुर्यथाऽहि: स्वात्मज्ञानादात्मनो जीवभाव: ।
आप्तोक्त्या हि भ्रान्तिनाशे स रज्जुजीवो नाहं देशिकोक्त्या शिवोऽहम्।।२।।

जैसे रज्जु के अज्ञान से उसमें सर्प का रूप लखता
वैसे ही निज अज्ञान से आत्मा कर्ता-भोक्ता लगता।
आप्त वचनों से रज्जु में सर्प का भ्रम दूर जाता रहता
वैसे ही ज्ञानियों के वचनों से निज स्वरूप-ज्ञान मिलता।।

आभातीदं विश्वमात्मन्यसत्यं सत्यज्ञानानन्द रूपे विमोहात् ।
निद्रामोहात्स्वप्नवत्तन्न सत्यं शुद्ध: पूर्णो नित्य एक: शिवोऽहम्।।३।।

अज्ञान से ही यह दृश्य जगत भासता सत्य ही
मोह के भ्रम से यह लगता है सच्चिदानन्द भी।
उचित जग को मोह-निद्रा-स्वप्न सा असत मानना ही
आत्मा को पूर्ण नित्य अद्वैत कल्याणमय जानना ही।।

मत्तो नान्यत्किंचिदत्रास्ति विश्वं सत्यं बाह्यं वस्तु मायोपक्लृप्तम्।
आदर्शान्तर्भासमानस्य तुल्यं मय्यद्वैते भाति तस्मान्छिवोऽहम्।।४।।

सृष्टि में नहीं कुछ भी सत्य - यह मानना चाहिये
गोचर जगत माया कृत वस्तु ही मानना चाहिये।
इसे दर्पण भीतर बिम्ब सम छाया ही मानना चाहिये
आत्मा को अद्वैत ज्योति ईश्वर अंश जानना चाहिये॥

नाहं जातो न प्रबृद्धो न नष्टो देहस्योक्ता: प्राकृता: सर्वधर्मा: ।
कर्तृत्वादिश्चिन्मयस्यास्ति नाहंकारस्यैव ह्यात्मनो मे शिवोऽहम्॥५॥

मेरा न जन्म है वृद्धि - नाश ही न होता कमी
ये तो प्रकृति से उपजे देहों के धर्म होते सभी।
यह जगत है प्रकट चिद्-पुरुष के संकल्प से ही
तब अहंकार क्यों? मैं आत्मा कल्याणमय ही॥

नाहं जातो जन्ममृत्यू कुतो मे नाहं प्राण: क्षुत्पिपासे कुतो मे।
नाहं चित्तं शोकमोहौं कुतो मे नाहं कर्ता बन्धमौक्षौ कुतो मे॥६॥

मैं अजन्मा हूं तब मेरी जन्म - मृत्यु कैसे
मैं प्राण नहीं तब मुझे भूख-प्यास कैसे।
मैं चित्त नहीं तब मुझे शोक-मोह कैसे
मैं कर्ता नहीं तब मेरा बन्ध-मोक्ष कैसे॥

इति श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचितं आत्मपंचकं ललितमोहन पन्त कृत राष्ट्रभाषा रूपान्तर सहितं सम्पूर्णम्।

इति

'मालोंज पन्तकुल गाथा'

- वन्दना -

नमामि गणाध्यक्षं शङ्करं च नागेश्वराधिपं
कुलाम्बिकां महादेवीं वन्देऽहं भुवनेश्वरीम्।

ऋषीन् अखण्डबोधकान्नत्वा गुरुजनास्तथा
पुण्यश्लोकान्स्मराम पितॄन च सर्वोपकारिणाम्॥

- १ -

कोंकण छोड़ा मूलपुरुष **जयदेव** नें सन् तेरह सौ तीन में
कूर्मांचल पहुंचे महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मण कुलीन वे।
कत्यूरी राजा के बने राजगुरु बड्यारी गांव मिला बौरारौ क्षेत्र में
जयदेव से कुलबृद्धि हुवी **रविदेव-रामदेव-भानुदेव** क्रम में॥

- २ -

भानुदेव पुत्र **श्रीधर** मणिकोटी राजगुरु बने रिखाड़ी कमस्यार गये
श्रीधर के दो पुत्रों में श्रीगोपाल 'हटवाल पन्तों' के मूल बने।
दूसरे पुत्र **बलभद्र** के **शिवदेव,** उनके चार पुत्र कर्मवीर हुवे
पहले ब्रह्मदेव के आनन्ददेव, आनन्द के गौतम, 'गौतम शाखा' के मूल हुवे॥

- ३ -

दूसरे पुत्र शम्भुदास के धर्मदास, उनके भवदास मणिकोटी सेनापति हुवे
तीसरे भानुदेव, उनके मुकुन्द, उनके विश्वरूप, उनके नाथू राजपुरोहित हुवे।
चौथे पुत्र **दामोदर** के दो सपूत गदाधर और **गोविन्द** ख्यातिमान हुवे
दामोदर के गदाधर और उसके आत्मज माधव और श्रीनाथ हुवे॥

- ४ -

माधव के वंशधर रतमाटा - खर्क - हल्पाटी - कोटाभावर में जाकर बसे
श्रीनाथ मणिकोटी राजगुरु थे, वंशधर तिलाड़ी-धनौरा-अग्रौन-काशीपुर बसे।
गोविन्दपुत्र **केशव** राजवैद्य बने, ज्ञानी पुत्र **भगीरथ** शर्म ज्यु नाम से प्रख्यात भये
भगीरथ के ज्येष्ठ पुत्र काशी के वंशज पभ्या-पीपली-बैड़ती - पुण्यगांव बसे॥

- ५ -

कनिष्ठ पुत्र **पुरुषोत्तम** को तीन सत्पुत्र गणेश, मणिराम और **मुकुन्द** प्राप्त हुवे
गणेश के वंशधर बरेली - कुनल्ता - मथुरा-गढ़तिर और चितई जाकर बसे।
मणिराम के वंशजों ने उप्राड़ा - जीवनपुर - पोखरखाली में आवास किये
मुकुन्द पुत्र था **विश्वनाथ,** उसके प्रभाकर और **शिवदेव** आत्मज हुवे॥

- ६ -

प्रभाकर के वंशधर उप्राड़ा-चोंसार-नाघर-सोर-सोनौली विस्थापित हो बसे
शिवदेव के प्रथम पुत्र जयराम से चम्पानोला-जजुट-बिष्टाकुड़ा-त्यूनरा कुल बसे।
दूसरे पुत्र कामदेव के कमलाबल्लभ और सीतावल्लभ सपूत उत्पन्न दो हुवे
कमलाबल्लभ ने अधार में निवास किया 'अधार पन्तकुल के अग्रज हुवे॥

- ७ -

सीताबल्लभ के तीन पुत्र पद्मपति - जयदेव - **शिवरूप** विख्यात हुवे
पद्मपति और जयदेव की सन्तति काशीपुरके लछमपुर-प्रतापपुर जा बसे।
शिवरूप के तीन पुत्रों में नन्ददेव और हरिदेव दो तो निःसन्तान रहे
तीसरे **रामचन्द्र** ने **मालोंज** गांव पाया लक्ष्मीचन्द नृप के वे राजवैद्य रहे॥

- ८ -

रामचन्द्र के पुत्र **गोपीबल्लभ** के पांच कुलदीपकों ने पांच प्रतिष्ठित घर रचे
देवीदत्त-गौरीदत्त-गंगादत्त-लक्ष्मीदत्त-**प्रेमबल्लभ** ये पांचों पञ्चरत्न सम रहे।
देवीदत्त के दो पुत्र निःसन्तान रहे, ईश्वरीदत्त को तीन कर्मठ सपूत मिले
अंबिकादत्त मिषक् श्रेष्ठ, गोविन्दबल्लभ साहित्यकार, चन्द्रदत्त जनसेवी बने॥

- ९ -

गौरीदत्त को गणेशदत्त-चन्द्रदत्त-नीलाम्बर-तारादत्त-कृष्णानन्द-नारायण छः पूत मिले
गणेशदत्त को अम्बादत्त-लक्ष्मीदत्त-तारादत्त तीन सदाचारी कर्मठ सपूत मिले।
चन्द्रदत्त को मोहन बल्लभ-गोविन्दबल्लभ-जीवन-गिरीश-राजेन्द्र छः योग्य सपूत मिले
नीलाम्बर को पीताम्बर-ललितमोहन-दामोदर-नित्यानन्द-बंशीधर पांच प्रख्यात पूत मिले॥

- १० -

तारादत्त के गंगाप्रसाद, कृष्णानन्द के हरिश्चन्द्र एकैक कुलदीप मिले, नारायण अनपत्य रहे
गंगादत्त के बदरीदत्त-ख्यालीराम, लक्ष्मीदत्त के दुर्गादत्त-मोतीराम-जगन्नाथ भये।
बदरीदत्त के मथुरादत्त-लक्ष्मीदत्त-पीताम्बर तीन, ख्यालीराम षट्-पुत्रवान बने
त्रिलोचन-शशिशेषर-देवीदत्त-आनन्दबल्लभ-मोहनचन्द्र-अम्बादत्त उनके नाम रहे॥

- ११ -

गोपीबल्लभात्मज प्रेमबल्लभ को शम्भुदत्त-**रामदत्त** ज्ञान क्रिया सम दो पुत्र मिले
शम्भुदत्त के बुद्धिबल्लभ कुलदीपक, रामदत्त को धर्म-पाद सम चार सपूत मिले।
चारों धर्मानन्द-**प्रेमबल्लभ**-भुवनचन्द्र-पद्मादत्त धर्मभीरु कर्तव्यनिष्ठ सदा रहे
मैं ललितमोहन चार प्रेमबल्लभ पुत्रों में ज्येष्ठ कहता कुल गाथा श्रद्धावनत बने॥

इति प्रेमबल्लभात्मज ललितमोहन रचित
'मालोंज पन्तकुल गाथा'।

इति

लेखक की शीघ्र प्रकाशनीय आगामी कृति

भर्तृहरि विरचित **सुभाषित त्रिशतकम्** (वैराग्य, नीति तथा श्रृङ्गार शतकों) के श्लोकों का हिन्दी **पद्यानुवाद एवं विवेचन** पुस्तक लगभग पूर्ण हो गयी है। इसमें तीनों शतकों के प्राप्त २३३ श्लोकों (जिनमें कोई प्रमाण न होने पर भी कुछ प्रक्षिप्त माने जाते हैं) समेत वैराग्यशतक के १०६, नीतिशतक के १२० तथा श्रृङ्गारशतक के १ ० ४ श्लोकों का समावेश कर उनके हिन्दी पदों में रूपान्तर के साथ विवेचना प्रस्तुत की गयी है। चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी द्वारा प्रकाशित, दक्षिणात्य पंडित अवंचि रामचन्द्र (बुधेन्द्र) कृत सहृदयानन्दिनी टीका पर आधारित विवेचना को श्रुति, स्मृति, इतिहास पुराणोक्त सम-भाविक वचनों एवं अन्य नीतिवाक्यों के साथ ही विविध सन्तों के वचनों - शेखसादी के गुलिस्तां तुलसीदास के रामचरितमानस एवं दोहावली, रहीमदास, कबीरदास के सुपरिचित दोहों के संदर्भ से संबलित किया गया है।

श्रृङ्गार शतकम के श्लोकों को भी शाब्दिक रूप से काम एवं रति के वर्णन से प्रतीत होते इनके विवेचन में मनुस्मृति के गृहस्थ धर्म संबंधी वाक्यों एवं विवाह में कन्यादान के दान वाक्य, मधु पर्क, समञ्जन, लाजाहोम, सप्तपदी आदि के मन्त्रों से जीवन के तीसरे पुरुषार्थ काम की प्राप्ति का विधान स्पष्ट करने का प्रयास एवं श्रीमद्भागवत (दशम् स्कंद) में वर्णित श्रीकृष्ण की रासलीला तथा गीत गोविंन्द में कवि जयदेव द्वारा कथित राधा एवं कृष्ण की प्रणयलीला में निहित आध्यात्म पक्ष को उजागर करने का प्रयास किया गया है।

विवेचना का उपसंहार करते हुवे, सुभाषितों के तात्त्विक प्रयोजन को **सार्वभौमिक मानवता धर्म** का अनुपालन करते हुवे इसके दार्शनिक एवं आध्यामिक तत्त्व एवं नैतिक आचरणीय तत्त्व को। मनुष्य को दिव्यता की प्राप्ति का साधन सिद्ध किया है, मानवता-धर्म का साम्प्रदायिक तत्त्व तो इस साधन के लिये, इस मानवता धर्म की भूमि में बने विविध पथ हैं जो एक ही गन्तव्य - दिव्यता की ओर पहुचाने वाले हैं। धर्म के नैतिक तत्त्व एवं दार्शनिक (आध्यामिक) तत्त्व के अनुकरण द्वारा ही चरित्र निर्माण एवं सर्वाङ्गीण प्रगति सम्भव है, न कि इसके बाह्य आवरण रूप गौण साम्प्रदायिक तत्त्व मात्र को ही धर्म मानने से। आज के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में यह विचार महत्वपूर्ण एवं नितान्त आवश्यक है।

- लेखक

नमन

१

रज्जौ सर्पः शुक्तिकायां च रौप्यं
नीरं पुरस्तान्मृगाख्ये मरीचौ।
तद्वत्तद्विष्वमेष प्रपञ्चो
यस्मित् ज्ञाते तं प्रपद्ये महेशम्।।
(स्कन्द पुराण)

रस्सी में सांप सीपी में चांदी सा जो वसता
मृगमरीचिका में जल रूप धर सबको जो छलता।
विशद जगज्जाल में जो अलक्ष्य विचरता
नमन उसे हो जिसे जानकर भव-तिमिर विनशता।।

२

यस्मान्सर्वमिदं प्रपञ्चरचितं मायाजगज्जायते
यस्मिन्तिष्ठति याति चान्तसमये कल्पानुकल्पे पुनः।
यं ध्यात्वा मुनयः प्रपञ्चरहितं विन्दन्ति मोक्षं ध्रुवः
तं वन्दे पुरुषोत्तमाख्यममलं नित्यं विभुं निश्चलम्।।
(ब्रह्म पुराण)

जिसने रचा यह जगज्जाल निज प्रेरित माया से उद्भव कर
प्रलयकाल तक जो रहता पुनःपुनः रचित होता रहता कल्पों तक।
जिनके ध्यान मात्र से ही मुक्त हो जाते तत्त्वज्ञानीध्यानी सब
नमन हो उसी सत् चिद् पुरुषोत्तम को जो मात्र एक अमर अज।।

३

अग्ने नय सुपथाराये ऽस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान।
युयोध्यस्मज्जुहराणमेनो भूयिष्ठां
ते नम उक्तिं विधेम।।
(ऋ.१/१८९/१), यजु. ४०/१६)

हे देव अन्तर्यामी! मार्गदर्शक तू ही सदा रहे हमारा
सन्मार्ग पर कर दे हमें अग्रसर तू ही हे सर्वदाता।
बने प्रेरक हमारी वृत्तियों का तू ही सदा हे सर्वज्ञाता
शत-शत नमन तुझे हैं निष्पाप कर दे हमें हे विधाता।।